शार्ङ्गधर संहिता में शारीर विज्ञान

वेद प्रकाश आर्य शास्त्री

पुस्तक परिचय

शार्ङ्गधर संहिता का प्राचीन एवं अर्वाचीन आयुर्वेदीय संहिताओं में महत्वपूर्ण स्थान है। डा० वेदप्रकाश आर्य ने इस ग्रंथ का अनुशीलन करते हुए, इसके गूढ़ रहस्यों का रहस्योद्घाटन कर इसकी विशेषताओं जैसे नाड़ी विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान, आज के वैज्ञानिक युग में भी अपनी सार्थकता को बनाए हुए है।

शरीरोत्पादक चतुर्विंशति तत्व, त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) उनके गुण व भेदों का वर्णन, दोषानुसार प्रकृतियां, वात-पित्त-कफ, नानात्मज विकार, सत्व-रज-तम इन गुणों का विवेचन किया गया है।

आहार-पाचन एवं उपयोग, पाचन संस्थान, श्वास संस्थान, मूत्र संस्थान आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

वनौषधियों का दोषानुसार चिकित्सा में उपयोग, आहार-पाचन में अग्न्याशय का योगदान एवं निद्रा, तन्द्रा और स्वप्न द्वारा अरिष्टज्ञान, अन्य शारीरिक क्रियाओं का अर्वाचीन एवं प्राचीन का समन्वय करते हुए लेखक ने उसकी महत्ता सिद्ध की है।

यह अनुसन्धानात्मक ढंग से लिखा गया है। इससे छात्रों, शिक्षकों तथा अनुसन्धानकर्त्ताओं को एक नवीन मार्गदर्शन मिलेगा।

ISBN 81-7054-201-2

मूल्य रु० 200/-

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विषय संख्या .... आगत नं० 111228

लेखक श्रीमती डा० दे[illegible]

शीर्षक शार्ङ्गधर संहिता में शरीर विज्ञान

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या





शाङ्र्गधर संहिता में शारीर विज्ञान



डा० वेदप्रकाश आर्य 'शास्त्री'



क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : 1994

प्रकाशक :

बी० के० तनेजा
क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
28, शॉपिंग सेन्टर, करमपुरा,
नई दिल्ली-110015

आवरण : ब्रेन हाल एडवरटाइजिंग

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटर्स द्वारा गौतम आर्ट प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-110032

समर्पण

पूज्य पिता श्री गेंदनलाल जी आर्य स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी एवं माताजी श्रीमती राजरानी देवी तथा पितातुल्य स्वर्गीय चाचा जी श्री बनवारीलाल जी को

सुसम्मति

आयुर्वेदीय प्राचीन एवं अर्वाचीन संहिताओं में शार्ङ्गधर संहिता का महत्वपूर्ण स्थान है। इस लघुत्रयी ग्रन्थ में शरीर सम्बन्धी गूढ़ रहस्यपूर्ण वर्णन अद्वितीय एवं आधुनिक ग्रन्थों के साथ सामंजस्यपूर्ण, इसका अनुशीलन अद्वितीय हिन्दी भाषा में, इसका वर्णन शारीर विषय के विवेचक डा० वेदप्रकाश आर्य ने शार्ङ्गधर शोध-प्रबंध में नाड़ी विज्ञान संबंधी विस्तृत विज्ञान, पूर्वकालिक वर्णित परम्पराओं का आज भी इसकी सार्थकता को सिद्ध कर रहा है।

त्रिदोष की परिभाषा, उसके रूप की गणना, ऋतुओं के अनुसार उसके मानव शरीर पर प्रभाव का भी विस्तृत वर्णन किया है। त्रिदोष में वर्णित सत्व, रज, तम का समावेश, वात, पित्त, कफ त्रिदोष का वर्णन, सत्व, रज, तम का वर्णन समन्वयात्मक रूप से किया गया है।

वनौषधियों का रोग एवं त्रिदोषानुसार विस्तृत विवरण उपयोगितानुसार किया गया है। इससे मनोवह स्रोतों के वर्णन की उपादेयता सिद्ध होती है। क्रिया-शारीर का अर्वाचीन एवं प्राचीन का समन्वय करते हुए लेखक ने इसकी महत्ता को सिद्ध किया है।

आहार विहार के द्वारा शारीरक्रिया में वर्णित पाचन संस्थान, श्वांस संस्थान, मस्तिष्क संस्थान, मूत्र संस्थान, पंचकर्मेन्द्रिय तथा पंचज्ञानेन्द्रिय आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है।

यह विवेचन अनुसंधानात्मक ढंग से लिखा गया है। इससे छात्रों, शिक्षकों तथा अनुसंधानकर्त्ताओं को एक नवीन मार्गदर्शन मिलेगा। इस विषय पर प्रथम प्रकार का प्रकाशन आयुर्वेद एवं हिन्दी वाङ्मय के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

मंगलमय शुभकामनाओं के साथ —

—डा० शिवराज सिंह
निदेशक
आयुर्वेद एवं यूनानी सेवायें (उ० प्र०)
लखनऊ

प्राक्कथन

आयुर्वेद एक शाश्वत विज्ञान है और अथर्ववेद का उपाङ्ग है। आयुर्वेद में वृहत्त्रयी और लघुत्रयी का विशिष्ट स्थान है। इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन एवं अध्यापन द्वारा सम्पूर्ण चिकित्सा के सिद्धान्तों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों का जितना भी अनुशीलन व मनन किया जाय वह भी कम है। यद्यपि लेखन कार्य एवं शोध-कार्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है फिर भी गुरुजनों के मार्ग निर्देशन में शार्ङ्गधर संहिता में वर्णित शरीर सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को उद्‌घाटित करने का मेरा विचार बना। कई वर्षों के अथक परिश्रम के वाद मैं इसे पुस्तक के रूप में आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर पा रहा हूँ।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शार्ङ्गधर के जीवन के विषय में प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में शार्ङ्गधर संहिता की विशेषताओं पर विचार किया गया है जैसे नाड़ी ज्ञान तथा चिकित्सा व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक योगों को एक साथ न लेकर कुछ विशेष लाभकारी चूर्ण, रस और आसवों आदि का निर्देश दिया है।

तृतीय अध्याय में त्रिदोष विषयक विवेचना की है। दोषों की उत्पत्ति तथा गुण-कर्म और उनके भेदों का विस्तृत वर्णन किया है। दोषों की संख्या तीन ही क्यों मानी गयी है। चौथा दोष क्यों नहीं? इसी प्रकार दोष द्रव्यस्वरूप हैं या शक्तिस्वरूप इनको स्पष्ट रूप में समझाया गया है। अन्नप्रणाली व पाचनतन्त्र की प्रक्रिया का वर्णन, रस से रक्त धातु का निर्माण तथा उससे स्त्रियों में आर्तव की उत्पत्ति किस प्रकार होती है।

चतुर्थ अध्याय में ऋतुओं के अनुसार मानव शरीर में संचय, प्रकोप, प्रशमन किस समय होता है और उनके लक्षण क्या हैं तथा इनका मनुष्य के शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है।

पंचम अध्याय में शार्ङ्गधर, चरक, सुश्रुत वर्णित नानात्मज विकारों का तुल-नात्मक अध्ययन किया है।

षष्ठम अध्याय में पाचन संस्थान, शार्ङ्गधर द्वारा अग्न्याशय सम्बन्धी उनकी

मौलिक खोज के विषय में तथा मूत्रवह संस्थान व श्वसन संस्थान का विवेचन किया है।

सप्तम अध्याय में दोषानुसार मानव प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन किया है।

अन्त में अष्टम अध्याय में निद्रा-तन्द्रा व स्वप्न द्वारा अरिष्ट ज्ञान एवं लाभकारी स्वप्नों का वर्णन है।

इस दुष्कर कार्य में जिन गुरुजनों का मैं आभारी हूँ उनमें सर्वप्रथम भूतपूर्व प्राचार्य राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के स्वर्गीय आचार्य निरंजनदेव जी व डा० के० सी० वर्मा का आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी कठिनाइयों को दूर किया। इसके साथ ही डा० ब्रह्मामित्र अवस्थी व डा० देवदत्त चतुर्वेदी जी शोध-विभाग श्री लालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ नई दिल्ली का आभारी हूँ, जिनके मार्ग-दर्शन में यह कार्य सम्पन्न हुआ।

वर्तमान में रीडर एवं विभागाध्यक्ष राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार के डा० नरेन्द्रपाल वर्मा जी का भी कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने इस लेखन कार्य में सहयोग प्रदान किया।

इसके साथ ही गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य डा० रामनाथ वेदालंकार जी का आभारी हूँ, जिन्होंने वेद भाष्य करते हुए भी मेरे लिए समय निकालकर मेरी भाषा की कमियों को दूर किया।

अन्त में मैं अपनी अर्धाङ्गिनी श्रीमती पद्मादेवी को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने टंकण की अशुद्धियों को ठीक किया तथा जब भी इस कार्य में प्रमादवश मेरी मन्थर गति हुई तभी मुझे प्रोत्साहित किया जिससे यह गुरुतर कार्य सम्पन्न हुआ।

इसके साथ ही उन सभी महानुभावों का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रेरणा व सहयोग द्वारा यह कार्य पूर्ण हुआ।

अन्त में श्री बी० के० तनेजा एवं सम्पूर्ण सूत्र के रूप में श्री आर० डी० पाण्डेय जी क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी का आभारी हूँ, जिनके सहयोग से इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक से आयुर्वेद के शिक्षक चिकित्सक एवं छात्र सभी लाभान्वित होंगे और आयुर्वेद एवं हिन्दी वाङ्मय में विस्तार होगा। यदि इसमें भूलवश या छपाई के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हों ता सुधीजन मुझे अवगत कराने का कष्ट करेंगे।

विनयावनत

--**डा० वेदप्रकाश आर्य 'शास्त्री'**
'प्रकाश निलय'
29/36-सी गम्भीर मार्ग
आर्य नगर, ज्वालापुर, हरिद्वार
पिन-249407

विषय-सूची

1

शाङ्र्गधर का काल

शार्ङ्गधर संहिता के आद्योपान्त अनुशीलन के बाद इसमें शार्ङ्गधर के काल के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेखनीय ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। केवल अध्यायान्त पुष्पिका में 'इति श्री दामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां श्रीशार्ङ्गधर-संहितायाम्' लिखा हुआ है, जिससे इतना ज्ञान होता है कि दामोदर के पुत्र श्री शार्ङ्गधर ने इस संहिता की रचना की है।

इसके साथ ही साथ एक शार्ङ्गधरपद्धति नाम की पुस्तक है, जिसके प्रणेता भी दामोदरसूनु शार्ङ्गधर ही हैं। इसमें प्राप्त विवरण के अनुसार शाकम्भरी देश में चौहानवंश में उत्पन्न श्रीमान् हम्मीर नाम के राजा हुए, उनके गुरु राघवदेव थे। उन्हीं के पुत्र राघवदेव तथा पौत्र शार्ङ्गधर हैं।[1] इस अवतरण से श्रीहम्मीरभूपति (चौहानवंशीय) के वर्णन से इनके काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

शार्ङ्गधर के काल के विषय में श्री गणनाथसेन जी ने अपने ग्रन्थ 'प्रत्यक्ष-शारीरम्' के उपोद्घात में लिखा है कि विजयनगर राज्य में वीरबुक्क नाम का महान् विक्रान्त राजा हुआ। उनके सभासद सायण और माधव आदि थे। इसी काल में सायण एवं माधव के समकालीन वैद्य शार्ङ्गधर का उल्लेख किया गया है।[2] इन्होंने शार्ङ्गधरपद्धति के निर्दिष्टानुसार शार्ङ्गधर का काल सं० 1420 माना है।[3]

शार्ङ्गधरसंहिता की भूमिका में पं० परशुराम जी शास्त्री ने शार्ङ्गधरसंहिता

और शार्ङ्गधरपद्धति दोनों के रचयिता एक ही शार्ङ्गधर को माना है।

शास्त्री जी के अनुसार शाकम्भरी देवी का मन्दिर कुरुक्षेत्र प्रान्त में अम्बाला-मण्डलगत उत्तरदिशा में आज भी विद्यमान है। इसी स्थान पर हम्मीरनरेश का राज्य था। इसके साथ ही साथ यह भी कहा है कि आफ्रेक्ट मुद्रित सूचीपत्र द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि अन्य भी शार्ङ्गधर हुए हैं।[4]

श्री ब्रह्मशंकर मिश्र जी ने पं० कालीप्रसाद जी की पुस्तक 'विद्वद्वृत्त' द्वितीय खण्ड का उद्धरण देते हुए कहा है कि शार्ङ्गधर के पितामह राघवदेव हठी रण-थम्भोर नरेश हम्मीरदेव के गुरु थे। हम्मीरदेव का समय 1395 ख्रिस्ताब्द का उत्तरार्द्ध है। अतएव राघवदेव का यही समय निश्चित है। शार्ङ्गधरपद्धति और शार्ङ्गधरसंहिता यह दो ग्रन्थ शार्ङ्गधर के पाये जाते हैं। विद्वद्वृत्तकार के कथना-नुसार शार्ङ्गधर हम्मीरदेव की सभा में कवि थे। इससे ज्ञात होता है कि इनके पितामह राघवचैतन्य ने चिरायुष्य प्राप्त किया था। शार्ङ्गधर ख्रिस्त की 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[5]

श्री हरदयाल जी गुप्त ने भी शार्ङ्गधरपद्धति और शार्ङ्गधरसंहिता का कर्ता एक ही व्यक्ति को माना है। शार्ङ्गधराचार्य का समय 14वीं शताब्दी है। इन्होंने हम्मीर का समय 1325-1351 ई० का सर्वविदित इतिहास-सम्मत कहा है।[6]

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार जी ने अपनी पुस्तक आयुर्वेद का वृहत् इतिहास में शार्ङ्गधर के काल के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने शार्ङ्गधरपद्धति में उल्लिखित हम्मीर को मेवाड़ का राजा माना है। उसका समय 1226 ई० है। इनके अनुसार शार्ङ्गधरपद्धति के ग्रन्थकर्ता दामोदर हैं।[7]

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार जी ने निम्न तथ्यों के आधार पर शार्ङ्गधरसंहिता और पद्धति को एक-दूसरे से भिन्न करने का प्रयास करते हुए शार्ङ्गधर का काल निर्णय किया है।[8]

(क) शार्ङ्गधर संहिता का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। इस दृष्टि से भी पद्धति-कार से 150 वर्ष के लगभग पूर्व वैद्य शार्ङ्गधर का समय आता है।[9]

(ख) शार्ङ्गधर में अफीम का उल्लेख होने से यह 1200 ई० के पूर्व की नहीं हो सकती।

(ग) शुक्त की व्याख्या में हेमाद्रि ने शार्ङ्गधर म० अ० 10/7 में से शुक्त का लक्षण उदधृत किया है। हेमाद्रि का समय 1260-1309 ई० है।

हिन्दी में एक 'हम्मीररासो' नामक काव्य है, जिसका रचयिता भी शार्ङ्गधर है। प्रो० रामचन्द्र पुरी ने अपने ग्रन्थ 'भाषा एवं साहित्यालोचन' में शार्ङ्गधर कृत 'हम्मीररासो' का रचनाकाल संवत् 1357 कहा है।[10]

आचार्य प्रियव्रत शर्मा जी ने अपनी पुस्तक 'आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें' में शार्ङ्गधरसंहिता का काल 1363 ई० लिखा है।[11]

इसके साथ ही साथ शर्मा जी ने निम्न तथ्यों के आधार पर शार्ङ्गधरसंहिता और शार्ङ्गधरपद्धति के ग्रन्थकर्त्ता को अलग-अलग मानते हुए शार्ङ्गधर का काल-निर्णय किया है।

(क) शार्ङ्गधर ने जो अपना परिचय दिया है, उसमें वैद्य होने का कोई उल्लेख नहीं है। इसके साथ ही साथ दोनों की विषयवस्तु भी भिन्न है।[12]

(ख) रणथम्भौर के राणा हम्मीरदेव पर अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई०) ने 1299 ई० में आक्रमण किया और 1301 ई० में जीतकर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीर काव्य में इसी हम्मीर का वर्णन है। शार्ङ्गधरपद्धति का रचयिता संभवतः इसी हम्मीरभूपति के गुरु राघवदेव का पौत्र था। इस प्रकार इसका काल 14वीं शती होगा।[13]

(ग) किन्तु शार्ङ्गधरसंहिता का काल भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि वोपदेव ने 13-14वीं शती में इस पर टीका लिखी है[14] तथा हेमाद्रि (13-14वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है।[15]

(घ) इसे 13वीं शती के पूर्वार्द्ध से आगे ले जाना सम्भव नहीं है। नाड़ीविज्ञान, अफीम, रसौषधियों की प्रमुखता का समावेश भी उसी काल में हुआ। इस प्रकार शार्ङ्गधरसंहिता के रचयिता शार्ङ्गधरपद्धति के कर्त्ता से भिन्न है और उनका काल 13वीं शती का पूर्वार्द्ध है।[16]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शार्ङ्गधर के काल के विषय में मुख्यतः दो मत पाये जाते हैं। प्रथम मत के मानने वाले श्री गणनाथसेन जी, पं० परशुराम शास्त्री, ब्रह्मशंकर मिश्र आदि शार्ङ्गधरसंहिता और पद्धति के ग्रन्थकर्त्ता के रूप में एक ही शार्ङ्गधर को मानते हैं और शार्ङ्गधरपद्धति में वर्णित उनका काल 14वीं शताब्दी मानते हैं।

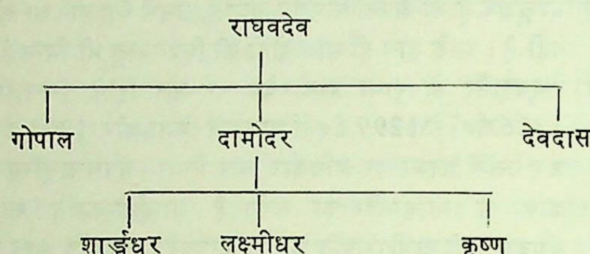
जबकि पं० श्री अत्रिदेव जी व आचार्य प्रियव्रत शर्मा जी शार्ङ्गधरसंहिता और शार्ङ्गधरपद्धति दोनों के ग्रन्थकार को अलग-अलग मानते हैं, इनके अनुसार शार्ङ्गधर का काल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

दोनों पक्षों द्वारा उद्धृत तर्कों के आधार पर यह मानना अधिक उचित होगा कि शार्ङ्गधरसंहिता और शार्ङ्गधरपद्धति के लेखक एक ही शार्ङ्गधर हैं और इनका काल लगभग तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

शाङ्गधर का जीवनवृत्त

शार्ङ्गधरसंहिता में ग्रन्थकार ने अपना परिचय एवं वंशावली का उल्लेख कहीं पर नहीं किया है। शार्ङ्गधरपद्धति के रचयिता भी दामोदरसूनु शार्ङ्गधर हैं, उन्होंने

अपना विस्तृत परिचय ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया है। उन्होंने लिखा है कि शाकम्भरी देश में चौहनवंशीय हम्मीनरेश के गुरु राघवदेव थे, उन्हीं के पुत्र दामोदर तथा पौत्र शार्ङ्गधर हैं। उनकी वंशावली[17] निम्न प्रकार है :



श्री ब्रह्मशंकर मिश्र जी ने शार्ङ्गधर के जीवन-परिचय पर कुछ प्रकाश डाला है। जो उन्होंने पं० कालीप्रसाद शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ 'विद्वद्वृत्त' के आधार पर लिखा है।[18]

उनके अनुसार शार्ङ्गधर के पूर्वज अजमेर के रहने वाले थे। जिनमें डिंगल-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि पृथ्वीराजरासौ के कर्त्ता चन्दवरदाई प्रसिद्ध थे। शार्ङ्गधर के पितामह राघवदेव थे, यही संन्यास लेने के बाद राघवचैतन्य के नाम से विख्यात सुप्रसिद्ध महागणपतिस्तोत्र के कर्त्ता हुए । यह सुप्रसिद्ध हठी रणथम्भोर नरेश हम्मीरदेव के गुरु थे।

शार्ङ्गधर हमीरदेव की सभा में कवि और वैद्यों में प्रधान थे, इससे ज्ञात होता है कि इनके पितामह राघवचैतन्य ने चिरायुष्य प्राप्त किया था।

विद्वद्वृत्तकार ने 'अयं भाटवंशे समुत्पन्नः' लिखकर शार्ङ्गधर को उत्तर-भारतीय 'भाट' समझा है, यह उचित नहीं है। शार्ङ्गधर मेवाड़ प्रान्तीय भट्ट थे। जो उस प्रान्त के प्रतिष्ठित ब्राह्मणों की एक शाखा है और जिसका सम्बन्ध गुजरात के औदीच्यों से है। जो कान्यकुब्ज इतिहास के अनुसार कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में शुक्ल माने गये हैं।

इन प्राप्त उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जो शार्ङ्गधरपद्धति में शार्ङ्गधर की वंशावली प्राप्त होती है, उसको मानना ही उचित होगा।

संदर्भ

1. पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपति ।
चाहुवाणान्वये जातः ख्यातः शौर्य इवार्जुनः ॥2॥

तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः ।
पुरन्दरस्यैव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेव नामा ॥3॥
गोपालदामोदरदेवसंज्ञा त्रयो बभूवुस्तनयास्तदीयाः ।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरयाकृतध्वान्त्र गणास्त्रयोऽपि ॥4॥
तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य त्रीनात्मजान्वीतरागः ।
भागीरथ्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठां जगाम ॥5॥
ज्येष्ठः शार्ङ्गधरस्तेषां लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः ।
कृष्णोऽनुजस्तेषां त्रयस्त्रेताग्नितेजस ॥6॥

शार्ङ्गधरसंहिता—टीका परशुराम शास्त्री, भूमिका, पृ० 6-7

2. दाक्षिणात्ये त्वेवंविधेऽपि समये वीरबुक्को नामाऽभून्महाविक्रान्तो नरपतिर्येन विजयनगरराज्यमधिष्ठिता न केवलं सुरक्षिता दाक्षिणात्य राज्यश्रीरेव, किन्तु भगवता मत्स्यावतारेणेव समृद्धृता व्याख्यापिताश्च वेदा : स्वसभासद : सायण-माधवादीन् प्रोत्साह्य । शार्ङ्गधरो नाम स्वसंहिताख्यवैद्यकसंग्रहकारश्च दाक्षिणात्ये एतत्कालाभ्यन्तर एव समभूदिति शार्ङ्गधरपद्धत्यां निर्दिष्टेन कालेन (सं० 1420) प्रतीयते ।

प्रत्यक्षशारीरम्—ले० गणनाथसेन उपोद्घात, पृ० 52

3. शार्ङ्गधरपद्धति—शार्ङ्गधरसंहितादिग्रन्थकारः शार्ङ्गधरस्तु चतुर्दशशतकस्य प्रथमोर्द्धे प्रादुरासीदिति शार्ङ्गधरपद्धतिप्रस्तावनायां लिखितेन परिचयेन समुन्नयेन ।

प्रत्यक्षशारीरम्—ले० गणनाथसेन उपोद्घात, पृ० 58

4. शार्ङ्गधरेण सुभाषितेऽपि शार्ङ्गधरपद्धतिः प्रणीता । तस्यामित्थं परिचयोऽस्य लभ्यते—"पुरा शाकम्भरीदेशे···त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।6। प्रारम्भे स्वयमेव वक्ति" इह च शार्ङ्गधरसंहितायां प्रत्यध्यायसमाप्तौ इति दामोदरसूनुना शार्ङ्ग-धराचार्येण, इत्यादि स्वयमुल्लिखति दामोदरसूनुत्वं इतश्च पद्धतिकारः संहिताकारश्चैक एवाचार्य इति सिद्धयति । आफ्रेक्टमुद्रिते सूचिपत्राणां सूची-पत्रे अन्येऽपि शार्ङ्गधरनामानो विद्वांसो बभूवरिति निश्चीयते इति त्वन्यत् ।

शाकम्भरीदेव्याश्च मन्दिरमत्रैवास्मन्निवासे अम्बालामण्डले, कुरुक्षेत्रप्रान्ते उत्तरदिशि विद्यते साम्प्रतमपि । हम्मीरस्य राज्यमप्यत्रैवासीदित्यैतिहासिकाः ॥

शार्ङ्गधरसंहिता—पं० परशुराम संशोधिता, भूमिका, पृ० 6-7-8

5. शार्ङ्गधरसंहिता—श्री प्रयागदत्त शर्मा, हिन्दी टीका की भूमिका से उद्धृत ।
6. शार्ङ्गधरसंहिता—श्री हरदयाल गुप्त की भूमिका से, पृ० 5
7. आयुर्वेद का वृहत् इतिहास—ले० अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ० 299
8. आयुर्वेद का वृहत् इतिहास—ले० अत्रिदेव, पृ० 300
9. शुक्तं—कन्दमूलफलादीनि सस्नेह लवणानि च । यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्त-

मभिवीयते अष्टाङ्गहृदय० अ० 5-76 की टीका,

10. भाषा एवं साहित्यालोचन—ले० प्रो० रामचन्द्रपुरी, पृ० 9
11. आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें—ले० प्रियव्रत शर्मा, पृ० 3
12. जयति शार्ङ्गधरस्त्रिपुरापदद्वयकुशेशयकोशमधुव्रतः ।
सरससूक्तिसुधौधकलाविधिः कविकरीन्द्रकदम्बमृगाधिपः ।।
आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास—ले० प्रियव्रत शर्मा, पृ० 197
13. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास--ले० प्रियव्रत शर्मा, पृ० 198
14. Aufrecht's Catalogus Catalogorum Pt I. P. 643. Wedar's Catalogue of Berlin, 1853.
आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास—ले० प्रियव्रत, पृ० 198
15. अष्टांगहृदय सूत्र 5/76 (शुक्तगुणाः)
16. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास—ले० प्रियव्रत शर्मा, पृ० 198
17. पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपतिः। चाहुबाणान्वये जातः ख्यातः शौर्यइवार्जुनः तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः ।
पुरन्दरस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेव नामा ।
गोपालदामोदरदेवसंज्ञा बभूवस्तनयास्तदीयाः । नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेखा-कृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि । तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य त्रीनात्मजान्वीतरागः ।
भागीरथ्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठां जगाम ।
ज्येष्ठ ! शार्ङ्गधरस्तेषां त्रघुर्लक्ष्मीधरस्ततः । कृष्णोऽनुजस्तेषां त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।
शार्ङ्गधरसंहिता—परशुराम शास्त्री, भूमिका, पृ० 6-7
18. शार्ङ्गधरसंहिता —हिन्दी भाषा टीका द्वारा श्री प्रयागदत्तशर्मा भूमिका में।
संशोधक श्री ब्रह्मशंकर मिश्र, संस्करण-1948

2

पूर्ववर्ती संहिताएँ और शाङ्गंधर संहिता

प्राचीनकाल की संहिताओं के अन्तर्गत धान्वन्तरसंहिता[1], भास्कर संहिता[2] और ब्रह्मसंहिता[3] का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिलता है परन्तु ये संहिताएँ ग्रन्थ रूप में प्राप्त नहीं हैं इसलिए इनके स्वरूप के विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता । मौखिक रूप से विषय का जो क्रमबद्ध विवेचन गुरु परम्परा के द्वारा हस्तान्तरित हुआ उसे श्रुति कहा जाता था और बाद में इनका संग्रह ग्रन्थ रूप में हुआ तो संहिता संज्ञा दी गयी ।

यद्यपि सम्प्रदाय विशेष की संहिताओं में विशिष्ट अंग का प्राधान्य होता है यथा अत्रेय सम्प्रदाय में अग्निवेश आदि ने कायचिकित्सा प्रधान और धान्वन्तर सम्प्रदाय में सुश्रुत आदि ने शल्य चिकित्सा प्रधान संहिताओं की रचना की। वस्तुतः इसी कारण आयुर्वेद में संहिताग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

प्रारम्भिक काल में जिन संहिताओं की रचना हुई वे प्रायः 'तन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध थीं । तन्त्र शब्द विस्तारशीलता एवं रक्षा का बोधक है, जिसमें विषयों का वर्णन संक्षिप्त हो किन्तु भविष्य में उनके विस्तार या प्रतिसंस्कार की सम्भावना हो तथा जिसमें समस्त विषय अपने रूप में सुरक्षित रहे वह 'तन्त्र' है। संहिता की

अपेक्षा तन्त्र का रूप संक्षिप्त होता है । अग्निवेश द्वारा रचित ग्रन्थ मूलतः अग्निवेश तन्त्र जो चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत एवं उपबृंहित होकर चरकसंहिता के रूप में प्रसिद्ध हुई । यही संहिता की परम्परा वर्तमान काल तक चली आयी ।

प्राचीनकाल की संहिताएँ : प्राचीनकाल की संहिताओं में चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता तथा काश्यपसंहिता संप्रति उपलब्ध हैं । इनमें प्रथम दो संहिताएँ पूर्णरूप में तथा बाद की दोनों खण्डित रूप में उपलब्ध होती हैं । हारीत-संहिता का भी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । इनके अतिरिक्त वाग्भट्ट की रचनाएँ भी अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय भी संहिता में मानी जा सकती हैं ।

शार्ङ्गधरसंहिता : शार्ङ्गधरसंहिता के ग्रन्थकर्त्ता शार्ङ्गधर ने स्वयं ग्रन्थ समाप्ति में कहा है कि आयुर्वेद में जो बहुत-सी संहिताएँ हैं, उनमें से थोड़ा-सा सार लेकर अल्प बुद्धि एवं थोड़ी आयु वालों के लिए यह रचना की है ।[4] उदाहरण-स्वरूप शार्ङ्गधरसंहिता में आयु का लक्षण शरीर और प्राणवायु का संयोग कहा हैं ।[5]

चरक ने इसी बात को इस रूप में कहा है—

"शरीरेन्द्रियसत्वात्मासंयोगो धारिजीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ।।

चरक—सू० स्थान 1/42

उपरोक्त दोनों लक्षणों में शार्ङ्गधर का लक्षण संक्षिप्त सरल और बुद्धिगम्य है क्योंकि शरीर के प्राण से युक्त रहने पर ही मनुष्य जीवित रहता है और जीवन की निरन्तरता का ही नाम आयु है और प्राण का वियोग हो जाने पर ही मनुष्य की आयु समाप्त हो जाती है ।

शार्ङ्गधरसंहिता में वर्णित रोगों पर दृष्टिपात किया जाए तो इसी बात की पुष्टि होती है कि बहुत सारे रोग जो इस संहिता में वर्णित हैं वे चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों में भी मिलते हैं । निम्न तालिका से ज्ञात होता है कि बहुत सारे रोग पूर्ववर्ती संहिताओं में भी प्राप्त होते हैं ।

तालिका-1

नाम रोग	शाङ्‌र्गधरसंहिता		चरकसंहिता		सुश्रुतसंहिता		अष्टाङ्गहृदय	
	खण्ड	अध्याय	स्थान	अध्याय	स्थान	अध्याय	स्थान	अध्याय
1	2		3		4		5	
1. अपस्मार	1	7	नि०	8	उ०	61	उ०	7
2. अरोचक	,,	,,	चि०	26	उ०	57	नि०	5
3. अर्बुद	,,	,,	,,	12	नि०	11	उ०	29
4. अर्श	,,	,	,,	14	,,	2	चि०	8
5. अश्मरी	,,	,,	,,	26	नि०	3	नि०	9
6. असृग्दर	,,	,	,,	20	शा०	2	उ०	33
7. आनाह	,,	,,	,,	28	उ०	56	नि०	11
8. उदर रोग	,,	,,	चि०	13	नि०	7	नि०	12
9. उदावर्त	,,	,,	,,	26	उ०	55	सू०	4
10. उन्माद	,,	,,	नि०	7	,,	62	उ०	6
11. कर्ण रोग	,,	,,	चि०	26	,	20	,,	17
12. कास	,,	,,	,,	18	,,	52	नि०	3

1	2		3		4		5	
13. कामला	1	7	चि०	16	उ०	44	,,	13
			सू०	19				
14. किलास	,,	,,	चि०	7	नि०	5	,,	14
	(श्वित्र रूप में)							
15. कुष्ठ	,,	,,	नि०	5	,,	5	,,	14
			चि०	7				
16. क्लीब	,,	,,	शा०	2	शा०	2	शा०	1
17. क्रिमि	,,	,,	सू०	19	उ०	54	नि०	14
			वि०	7				
18. गण्डमाला	,,	,,	चि०	12	नि०	11	उ०	29
19. गुल्म	,,	,,	वि०	3	उ०	42	नि०	11
			चि०	5				
20. ग्रहणी	,,	,,	चि०	15	,,	40	,,	8
21. ग्रन्थि	,,	,,	,,	12	नि०	11	,,	29
22. छर्दि	,,	,,	चि०	20	उ०	49	,,	5
23. ज्वर	,,	,,	नि०	1	,,	39	,,	2
			चि०	3				

1	2		3		4		5	
24. नाड़ीव्रण	1	7	चि०	25	नि०	10	उ०	29
25. नासा रोग	,,	,,	,,	26	उ०	22	,,	19
26. नेत्र रोग	,,	,,	,,	,,	,,	1	,,	8
27. पाण्डु	,,	,,	,,	16	,,	44	,,	13
28. पिड़िका	,,	,,	सू०	17	नि०	6	नि०	10
29. प्रमेह	,,	,,	नि०	4	,,	6	,,	10
30. भगन्दर	,,	,,	चि०	12	,,	4	,,	28
31. मदात्यय	,,	,,	,,	24	उ०	47	नि०	6
32. मसूरिका	,,	,	,,	12	नि०	13	उ०	31
33. मूत्र कृच्छ्र	,,	,,	,,	26	उ०	59	नि०	9
34. मूत्राघात	,,	,,	सि०	9	,,	58	,,	,,
35. योनिरोग	,,	,,	चि०	38	उ०	38	उ०	33
36. रक्तपित्त	,,	,,	नि०	2	,,	45	नि०	3
			चि०	4				
37. राजयक्ष्मा	,,	,,	चि०	8	,,	41	,,	5
			नि०	6				

1	2		3		4		5	
38. वातविकार	1	7	सू०	20	नि०	1	नि०	15
39. वातरक्त	,,	,,	चि०	29	,,	1	,,	16
40. विस्फोट	,,	,,	,,	12	,,	13	उ०	31
41. विद्रधि	,,	,,	सू०	17	,,	9	नि०	11
42. विष	,,	,,	,,	20	नि०	1	,,	15
43. वृद्धि	,,	,,	चि०	12	,,	12	,,	11
44. शोथ	,,	,,	नि०	12	सू०	17	,,	13
45. शिरो रोग	,,	,,	सू०	17	उ०	25	उ०	23
46. श्लीपद	,,	,,	चि०	12	नि०	12	,,	29
47. श्वांस	,,	,,	,,	17	उ०	51	नि०	4
48. स्त्री रोग	,,	,,	,,	30	शा०	2, 10	उ०	33
					नि०	8		
49. स्वर भेद	,,	,,	,,	8	उ०	53	नि०	5
50. हिक्का	,,	,,	,,	17	,,	50	,,	4
51. हृद् रोग	,,	,,	सू०	17	,,	43	,,	5
52. हलीमक	,,	,,	चि०	16	,,	44	,,	13

उपरोक्त रोगों की तालिका-1 द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि वृहत्त्रयी[6] में वर्णित रोगों में से अधिकांश रोगों का वर्णन शार्ङ्गधरसंहिता में मिलता है. इससे यह भी अर्थ नहीं लगा सकते हैं कि शार्ङ्गधरसंहिता, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता व वाग्भट्ट कृत अष्टाङ्ग हृदय की केवल नकल मात्र है। कुछ ऐसे रोग भी हैं जिनको शार्ङ्गधर ने महत्वपूर्ण न मानते हुए छोड़ दिया है या उनके काल में इन रोगों की समाप्ति हो गयी हो। तालिका-2 द्वारा ज्ञात हो जाएगा कि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुछ रोगों का वर्णन मिलता है परन्तु शार्ङ्गधर संहिता में नहीं है। यह सारणी निम्न प्रकार है।

तालिका-2

रोग नाम खण्ड—अध्याय 1	शाङ्गंधर संहिता स्थान—अध्याय 2	चरक संहिता स्थान—अध्याय 3	सुश्रुत संहिता स्थान—अध्याय 4	अष्टाङ्गहृदय स्थान—अध्याय 5
1. अपची	× ×	× ×	नि० 11	उ० 7
2. अर्म	× ×	× ×	उ० 4	सू० 8
3. अलर्क	× ×	× ×	क० 7	× ×
4. किक्किस	× ×	शा० 8	× ×	शा० 1
5. क्लैब्य	× ×	चि० 30	× ×	× ×

1	2		3		4		5	
6. प्रदर	×	×	चि०	30	शा०	2	×	×
7. रोमान्तिका	×	×	,,	12	×	×	×	×
8. बातबलास	×	×	,,	29	×	×	नि०	16
9. शोष	×	×	नि०	6	×	×	×	×

इस तालिका-2 से यह निष्कर्ष निकलता है कि शार्ङ्गधर संहिता काय-चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है अतः अपची, अर्म, अर्लक आदि रोगों का वर्णन छोड़ दिया है जबकि सुश्रुत संहिता में इनका वर्णन मिलता है। कुछ रोग चरक में वर्णित हैं, उन्हें भी छोड़ दिया है। इन रोगों को शार्ङ्गधर ने दूसरे रूप में स्वीकार किया है।

तालिका-3

रोग नाम	शाङ्गधर संहिता खण्ड—अध्याय		चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टाङ्गहृदय
1. शीतपित्त	1	7	×	×	×

शार्ङ्गधरसंहिता में कुछ रोगों एवं अन्य विवरण से यह भी पता चलता है कि इस संहिता में अपनी मौलिकता भी है तथा नवीन विषयों का विवेचन किया है जो कि चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट ने छोड दिया है। यह शार्ङ्गधर की अनुसन्धानात्मक देन है। यह तालिका-3 से प्रमाणित होता है।

शाङ्र्गधर संहिता की अपनी विशेषताएँ

शार्ङ्गधरसंहिता मध्यकाल की रचना है तथा तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए इस ग्रन्थ की रचना की गयी। इस काल में एक ओर राजपूतों की छत्रछाया में प्राचीन विज्ञान अपने स्वरूप की रक्षा में प्रयत्नशील था तो दूसरी ओर मुस्लिम राजाओं के अनेक शतीव्यापी सम्पर्क एवं प्रभाव के कारण अनेक नये विचार समाज में घुल-मिलकर एकात्मकता ग्रहण कर रहे थे, जिसका प्रभाव हमें बारम्बार इस ग्रन्थ में यथास्थान परिलक्षित होता है।

नाड़ी ज्ञान

मुसलमानों के साथ अनेक प्रकार के नये व यूनानी औषध द्रव्य, नवीन औषध कल्पनाएँ, चिकित्सा क्रम आये जो यहाँ आयुर्वेद द्वारा आत्मसात कर लिये गये। इस काल में स्त्रियों में पर्दा-प्रथा का प्रचलन आरम्भ हो चुका था। इस कारण निदान ज्ञान की माधव व चरक द्वारा प्रतिपादित अष्टविध[7] तथा दशाविध[8] आतुर परीक्षा करना सम्भव नहीं था।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए नाड़ी ज्ञान का विकास शार्ङ्गधर ने किया। इससे पूर्व के ग्रन्थों चरक सुश्रुत तथा अष्टाङ्गहृदय में नाड़ी ज्ञान का नितान्त अभाव है। इस ज्ञान के विकास के कारण ही यवनाङ्गनाओं के रोग का निर्णय हकीम व वैद्य करने लगे। इस ज्ञान को आयुर्वेद ने भी आत्मसात किया अतः शार्ङ्गधर ने इस संहिता के पूर्वखण्ड के तृतीय अध्याय में नाड़ी ज्ञान का वर्णन किया है तथा दोषानुसार भेद करते हुए नाड़ी के लक्षण बताये हैं। उनके अनुसार वायु विकार से उत्पन्न रोगों में नाड़ी की गति जिस प्रकार जोंक व सर्प चलता है, उसी प्रकार होती है।[9] अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी चलती है।

इसी प्रकार शार्ङ्गधर ने पित्त विकार से उत्पन्न रोगों में नाड़ी की गति कुलिङ्ग, कौआ तथा मेंढ़क जिस प्रकार उछल-उछलकर चलता है, उसी प्रकार होती है। अर्थात् अधिक दबाव के साथ अधिक उछाल लेती हुई नाड़ी चलती है।[10]

कफ जन्यविकारसे उत्पन्न रोगों में नाड़ी हंस और कबूतर की गति के समान चलती है अर्थात् मन्द व गम्भीर नाड़ी होती है।[11]

इसी प्रकार जब तीनों दोषों के कुपित होने से सन्निपातज रोग जब शरीर में होते हैं, उस समय नाड़ी की गति लावा, तीतर और बटेर पक्षियों की चाल के समान हो जाती है अर्थात् जिस तरह ये पक्षी कुछ रुककर बड़ी तेजी से दौड़ते हैं ठीक वैसी ही गति नाड़ी की भी होती है।[12]

कभी-कभी शरीर में दो दोषों के मिलने से रोग होते हैं, उस समय नाड़ी दो दोषों के प्रकोप के कारण कभी मन्द और कभी तेज चाल से चलती है अर्थात् जिन

दो दोषों का प्रभाव होता है, उसी के अनुरूप मिश्रित चाल होती है।

एक स्थिति ऐसी भी आती है जब रोग असाध्य होता है। यदि ऐसे रोगी की चिकित्सा वैद्य करता है तो अपयश का भागी होता है। उसके लिए शार्ङ्गधर ने लक्षण बतलाते हुए कहा है कि यदि नाड़ी चलते-चलते अपने स्थान अंगुष्ठमूल से हट जाए तो वह अवश्य ही मारक होती है। जो नाड़ी ठहर-ठहर कर चलती है अर्थात् जो चल-चलकर फिर बन्द हो जाती है तो वह भी प्राणों को नष्ट करती है। जो नाड़ी अतिक्षीण चले अर्थात् छूने से कमलनाल के तन्तु जैसी पतली मालूम हो और बर्फ जैसी ठण्डी मालूम पड़े वह निश्चित रूप से प्राणों को नष्ट करती है। इन गतियों को देखकर वैद्य को समझ लेना चाहिए कि रोगी का प्राणान्त निकट है।[14]

इसके अलावा शार्ङ्गधर ने विभिन्न रोगों में नाड़ी की गतियाँ क्या होंगी उनका भी वर्णन किया है जैसे—

साधारण ज्वर में नाड़ी उष्णता लिये हुए जल्दी-जल्दी चलती है।[15]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन चिकित्सा शास्त्री शार्ङ्गधर ने नाड़ी ज्ञान के विषय में महत्वपूर्ण खोज करके आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान को दी जिसका हम लोग रोगों के निदान एवं चिकित्सा में आज भी उपयोग कर रहे हैं।

आधुनिक दृष्टि से नाड़ी पर विचार

आधुनिक दृष्टिकोण से पल्स (नाड़ी) को इतना महत्व नहीं दिया गया है। यह विशेष रूप से धमनीगत रक्तप्रवाह की ओर संकेत करती है। नाड़ी के द्वारा हृदय तथा धमनियों की अवस्था के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते हैं। नाड़ी का अनुभव अँगूठे के नीचे रेडियल धमनी के ऊपर किया जाता है क्योंकि इस स्थान पर नाड़ी सबसे अधिक ऊपर की ओर होती है और इसके एकदम नीचे आधार-रूप में रेडियस अस्थि पड़ी होती है। नाड़ी के द्वारा निम्न बातों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गति : एक सामान्य व्यक्ति का हृदय 1 मिनट में 72 बार धड़कता है। बालकों का हृदय अपेक्षाकृत अधिक धड़कता है जैसे एक नवजात शिशु का हृदय एक मिनट में 120 से 130 बार तक धड़कता है। जैसे-जैसे आयु अधिक होती जाती है हृदय की धड़कनों की गति उसी अनुपात में कम होती जाती है तथा युवावस्था में 70 से 80 के मध्य स्थिर हो जाती है परन्तु वृद्धावस्था में नाड़ी की गति पुनः तीव्र हो जाती है, जिसका कारण धमनियों में सुधालवणों (केल्सियम साल्ट) का प्रक्षिप्त होना है तथा शरीर में वात दोष की वृद्धि होना है। यदि नाड़ी की गति बढ़ जाए तो उसे टेकीकार्डिया और घट जाए तो उसे ब्रेडीकार्डिया कहते हैं।[16]

यदि शरीर का तापक्रम बढ़ता है तो नाड़ी की गति में भी अन्तर आ जाता है। सामान्य तौर पर 1 डिग्री फानहाइट तापक्रम बढ़ने पर नाड़ी की संख्या दस बढ़ जाती है। इसके आधार पर हम ज्वर की अवस्था में तापक्रम की वृद्धि का अनुमान लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भय, क्रोध, अत्यधिक परिश्रम तथा हृदय से रोगों की अवस्था में भी नाड़ी बढ़ जाती है।

2. शक्ति : नाड़ी द्वारा यह देखा जाता है कि रक्तवाहिनी में रक्त किस प्रकार से बह रहा है। धमनी जो उँगलियों पर दबाव डालती है, उसे फोर्स शब्द से जानना चाहिए। यह दबाव निलय सकोच (Vertrieular Contracon) के अच्छा होने पर ठीक होगा तथा हृदय के दुर्बल होने की अवस्था में नाड़ी की शक्ति कम हो जायेगी।

3. नियमितता और अनियमितता : नाड़ी से हम यह देख सकते हैं कि हृदय नियमित गति से धड़क रहा है या नहीं यदि नाड़ी नियमित है तो हम हृदय की गति को सामान्य मानते हैं और यदि नाड़ी अनियमित है तो यह हृदय की गम्भीर विकृति की ओर संकेत करती है।

4. तनाव : तनाव का अर्थ उस दबाव से है जो कि रक्त के बहाव को रेडियम धमनी में रोक लेने के लिए पर्याप्त है। यह तनाव रक्तदान की ओर संकेत करता है। उक्च रक्तचाप की अवस्था में तनाव बढ़ जाता है तथा निम्न रक्तचाप की अवस्था में तनाव कम हो जाता है।

(2) **धमनी की भित्तियों की अवस्था** : नाड़ी द्वारा हम यह ज्ञात करते हैं कि धमनी की भित्ति की दशा सामान्य है या नहीं। इस अवस्था में हम उँगलियों से नाड़ी को इधर-उधर घुमाकर देखते हैं और उसके कड़ेपन का अनुभव करते हैं। बुढ़ापे में केल्सियभ व कोलेस्टेरोक के धमनी व शिराओं की दीवारों में जमा हो जाने के कारण धमनी की दीवार कड़ी पड़ जाती है।

नाड़ी का अध्ययन करने के लिए नाड़ी का ग्राफ बनाया जाता है, जिसे स्फिगमोग्राफ कहा जाता है और जिस यन्त्र का प्रयोग करते हैं, उसे डयूगन्स स्फिगमोग्राफ (Dudgeon'm Sphygmograph) कहते हैं।[17]

शाङ्‌र्गधर की चिकित्सा विशेषता

शार्ङ्गधर की चिकित्सा शैली पर अन्वेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि चरक, सुश्रुत आदि पूर्ववर्ती संहिताओं ने जहाँ पर एक रोग की चिकित्सा के लिए अनेक प्रकार के क्वाथ, चूर्णों एवं रस, रसायनों का प्रयोग बतलाया है वहीं पर शार्ङ्गधर ने, किसी एक रोग की चिकित्सा के लिए एक या दो क्वाथ तथा चूर्ण, वटी, आसव व अरिष्टों में से चुने हुए योगों का विधान किया है। इससे चिकित्सक के

लिए सबसे अच्छी बात यह है कि उसको ऊहा-पोह में नहीं पड़ना पड़ता है कि इस रोग में कौन से क्वाथ या चूर्ण आदि का प्रयोग करूँ। यह शार्ङ्गधर की चिकित्सा सौकर्य हेतु अपूर्व देन है। यथा :

प्रमेह की चिकित्सा में शार्ङ्गधर ने निश्चित क्वाथों में वारादि : वत्सकादिक्वाथौ, फलत्रिकादिक्वाथ।[18] चूर्णों में त्रिफला चूर्ण।[19] वटी के अन्तर्गत चन्द्रप्रभावटी।[20] गूगलों में गोक्षुरादि गूगल[21] आसवों में कुमार्यासव[22] तथा अरिष्ठ के अन्तर्गत देवदार्वाद्यरिष्ट[23] स्वरस के अन्तर्गत अमृतास्वरस और धात्रीस्वरस[24] रसों में मेहबद्धरस[25] व वसन्तकुसुमाकर[26] रस का प्रयोग बतलाया है।

प्रमेह की चिकित्सा में चरक ने निम्नलिखित विभिन्न क्वाथों व चूर्णों का प्रयोग बतलाया है।

(1) दारुहरिद्र, देवदारू, त्रिफला, मोथा का क्वाथ बनाकर।[27]

(2) हल्दी के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर आँवले के रस के साथ पीना।

(3) कफज व पित्तज प्रमेह में कम्पिल्लक, सप्तछत, शाल का चूर्ण तथा बिभीतक, रोहितक, कुटज की छाल का चूर्ण अथवा कपित्थ के फूलों के चूर्ण को मधु के साथ चाटें।[28]

(4) त्रिफला के क्वाथ में जौं के सत्तुओं को रात-भर भिगोकर प्रातः मधु मिलाकर पीना चाहिए।[29]

(5) दश, क्वाथ, कफज, प्रमेह तथा दश क्वाथ पित्तज प्रमेह की चिकित्सा हेतु बतलाये हैं।[30]

जबकि शार्ङ्गधर ने चूर्णों केवल त्रिफला चूर्ण का प्रयोग क्वाथों में केवल जो सभी प्रमेहों में उपयोगी हैं वारादिवत्सकादि क्वाथ व फलत्रिकादिक्वाथ का ही प्रयोग बतलाया है। इन विभिन्न क्वाथों का रोगियों पर अनुभव करने के उपरान्त ही जाना जा सकता है कि यह अधिक उपयोगी है और यह क्वाथ कम उपयोगी है।

इसी प्रकार अष्टाङ्गहृदय में भी पञ्चश्योगाः[31] व कुछ कषायों का उपयोग प्रमेह रोग में बतलाया है।

सुश्रुतसंहिता में भी सभी प्रमेहों में प्रयुक्त होने वाले पाँच क्वाथों को बतलाया है।[32] शार्ङ्गधर ने प्रमेह की चिकित्सा में आसवों के अन्तर्गत केवल कुमार्यासव[33] का प्रयोग बतलाया है। जबकि चरक ने लोध्रासव, दन्त्यासव, भल्लातकासव[34] का प्रयोग बतलाया है और अष्टाङ्गहृदय में लोध्रासव[35] का प्रयोग तथा सुश्रुत में किसी आसव का प्रयोग नहीं बतलाया है।

इसके अतिरिक्त चरक ने त्रिकष्टकाद्य तैल[36] के पान का विधान भी किया है और अष्टाङ्गहृदयकार ने धान्वन्तरघृत[37] का प्रयोग भी बतलाया है।

चरक सुश्रुत अष्टाङ्गहृदय के अतिरिक्त भी शार्ङ्गधर ने प्रमेह की चिकित्सा में कुछ वटी गुग्गुलु तथा अरिष्ट व रसों का उपयोग बतलाया है अतः यह शार्ङ्गधर की आयुर्वेद चिकित्सकों को सौकर्य हेतु विशिष्ट देन है। जो विशिष्ट योग हैं वे निम्न प्रकार हैं।

वटी के अन्तर्गत 'चन्द्रप्रभावटी', 'गोक्षुसादिगुग्गुलु',[39] आसवों में केवल 'कुमार्यासव'[40] तथा अरिष्टों में 'देवदार्वाद्यरिष्ट'[41] रसों के अन्तर्गत 'वसन्त-कुसुमाकर रस'[42] व 'मेहबद्धरस'।[43]

उपर्युक्त तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि शार्ङ्गधर ने अपने समकालीन या पूर्व-कालीन संहितग्रन्थों में प्राप्त चिकित्सा योगों पर पुनः परीक्षण किया और उन्होंने जिन क्वाथ, चूर्ण, वटी, आसव व अरिष्ट आदि को जिस विशेष रोग पर सबसे अधिक प्रभावकारी पाया। उन योगों का उल्लेख उन्हीं रोगों की चिकित्सा हेतु शार्ङ्गधरसंहिता में किया। यह उनके बारम्बार रोगियों पर परीक्षण करने के उप-रान्त ही सम्भव हो सकता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि शार्ङ्गधर में वर्णित योगों का अच्छी प्रकार अनुभव करके उनके परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए चिकित्सा में प्रयोग करने हेतु उल्लेख किया गया है।

इसके साथ ही साथ शार्ङ्गधर ने कुछ नये योगों जैसे चन्द्रप्रभावटी, गोक्षुरादि-गूगल, कुमार्यासव, देवदार्वाद्यरिष्ट, वसन्तकुसुमाकर रस व मेहबद्ध रस का प्रयोग प्रमेह रोग में बतलाया है, जिनका चरक सुश्रुत व अष्टाङ्गहृदय में उल्लेख नहीं मिलता है।

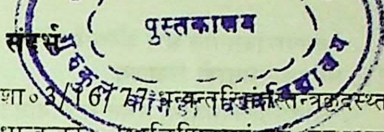
इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शार्ङ्गधर ने चिकित्सा क्षेत्र में भी अपनी विशिष्टता बनाये रखी है। इसका प्रमाण एक यह भी है कि शार्ङ्गधर के योगों का प्रयोग आज भी वैद्य समाज बड़े विश्वास के साथ प्रयोग कर रहा है और रोगियों को लाभ प्राप्त हो रहा है। प्रमाणस्वरूप आज भी बहुत-सी फार्मेसियाँ उपरिलिखित औषधियों का निर्माण प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में कर रही हैं। यह बात निम्न तालिका-4 (पृ० 20) द्वारा स्पष्ट हो जाती है, जिसमें कुछ फार्मेसियों के सूची-पत्रों में उद्धृत औषधियों का नाम अंकित है।

शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ में भी इस बात को स्वीकार किया है कि जो सिद्ध योग है, उनके प्रभाव आदि की स्वयं परीक्षा करके तथा जिनसे लाभ प्राप्त हुआ, ऐसे योगों को गुण आदि से अनुमान करके सब लोगों के हितार्थ संक्षेप में ही कहूँगा।[44]

इससे स्पष्ट होता है कि शार्ङ्गधर ने बहुजनहिताय एवं बहुजनसुखाय के लिए अपने योगों को शतशः परीक्षण व अनुभव करके, ग्रन्थ में चिकित्सक बन्धुओं के लिए लिखा।

तालिका-4

औषधि नाम	फार्मेसी	सूची-पत्र, पृष्ठ संख्या	औषधि संख्या
1. चन्द्रप्रभावटी	गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार	20	31
,,	को-आपरेटिव ड्रग फैक्ट्री, रानीखेत	8	18
,,	योगी फार्मेसी	2	—
,,	पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द	14	—
2. गोक्षुरादि गुग्गुलु	गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार	20	29
,,	को-आपरेटिव ड्रग फैक्ट्री, रानीखेत	17	3
,,	योगी फार्मेसी	14	—
,,	पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द	19	—
3. कुमार्यासव	गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार	28	12
,,	को-आपरेटिव ड्रग फैक्ट्री, रानीखेत	14	10
,,	योगी फार्मेसी	12	—
,,	पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द	21	—
4. वसन्तकुसुमाकररस	गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार	16	23
,,	को-आपरेटिव ड्रग फैक्ट्री, रानीखेत	14	10
,,	योगी फार्मेसी	7	—
,,	पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द	15	—



संदर्भ

1. धन्वन्तरिस्तु त्रीण्याह—अ० हृ० शा० 3/167 भरतस्त्रिशतं तन्त्रकृदस्थ्नां शतानि त्रीण्येवाह तथा चोक्तं धान्वन्तरे—'शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद् विदह्यते'—अरुणदत्त ।
2. कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः । स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः ॥ भास्करश्च स्वशिष्येभ्यः आयुर्वेदं स्वसंहिताम् । प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्तत । ब्रह्मवैवर्त 16 स०
3. श्लोक शतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान स्वयंभूः—सु० सू० 1/3 । विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन् । स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम् ॥ आवश्यथ
4. आयुर्वेदसमुद्रस्य गूढार्थमणिसंचयम् । ज्ञात्वा कैश्चिद्बुधैस्तैस्तु कृता विविधसंहिता ॥ किंचिदर्थं ततो नीत्वा कृतेऽयं संहिता मया । कृपाकटाक्षनिक्षेपमस्यां कुर्वन्तु साधवः ॥ विविधगदार्तिदरिद्रनाशनं या हरिरमणीव करोति योगरत्नैः । विलसतु शार्ङ्गधरस्य संहिता सा कविहृदयेषु सरोज निर्मलेषु ॥ अल्पायुषामल्पाधियामिदानीं कृतं समस्तश्रुतिपाठशक्त्या । तदत्रयुक्तं प्रतिबीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥
शार्ङ्गधरसंहिता उ० ख० अ० 13-125 से 128 ॥
5. शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते । कालेन तद्वियोगाच्च पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः ॥ शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-52
चरक ने इसी बात को इस रूप में कहा है—
"शरीरेन्द्रियसत्वात्मासंयोगो धारिजीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ चरक—सू० स्थान 1/42 ।

6. आयुर्वेद की परम्परा में चरक, सुश्रुत व वाग्भट्ट को वृहत्जयी के रूप कहा जाता है ।
7. रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् । नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥ माधवानिदान पूर्वार्द्ध टीका, पृ० 15
8. तस्मादातुरं परीक्षेत् प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, अहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चे, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः । चरक पूर्वार्द्ध विमान अ० 8-94
9. **प्रकुपितवातजनाड़ी लक्षणम् :**
"नाड़ी घत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोगतिम् ॥" शार्ङ्गधर, पूर्व० 3-2
10. **प्रकुपितकफजनाड़ी लक्षणम् :**
"कुलिङ्गकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः ।" शार्ङ्गधर, पूर्व 3-3
11. **प्रकुपितकफजनाड़ी लक्षणम् :**

"हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः ।।" शार्ङ्गधर, पूर्व० 3-4

12. **सन्निपातजनाड़ी लक्षणम् :**
"लावातित्तिरवर्तीनां गमनं सन्निपाततः ।।" शार्ङ्गधर, पूर्व०—3-5

13. **द्विदोषजनाड़ी लक्षणम् :**
"कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद्वेगवाहिनी । द्विदोषकोपतो ज्ञेया ।।"
शार्ङ्गधर पूर्व० 3-6

14. **असाध्यनाड़ी लक्षणम् :**
···हन्ति च स्थानविच्युता ।
स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ।
अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ।। शार्ङ्गधर, पूर्व० 3-7

15. **ज्वरेनाड़ी लक्षणम् :**
"ज्वर कोपे तु धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ।।"

16. Inceased pulse rati is Callid Tachyeardia and dimimisted Pulse rati is Callid bradycardia—Humman physiclogy by C. C. chatterjee Volume I, page 318

17. Recording of radial Julse for climical Jurpase the Commonest instrument used is Dudgeon's Sphygmograph—Human Physiclogy by C. C. chatterjee Volume I, Page 318

18. वरादार्व्यब्ददारुणां क्वाथः क्षोद्रेण मेहहा ।
वत्सकत्रिफला दार्वीमुस्तकोबीजकस्तथा ।
फलत्रिकाब्दार्वीणां विशालायाः श्रृतं पिवेत् ।
निशाकल्कयुतं सर्वप्रमेहविनिवृत्तमे ।।
शार्ङ्गधर मध्यम० अ० 2-110 व 111

19. एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ बिभीत कौ ।
चत्वार्यामलकान्येवत्रिफलैषा प्रकीर्तिता ।।
त्रिफला मेहशोथघ्नी····················· ।
शार्ङ्गधर अध्यम अ० 6-9 से 10

20. शार्ङ्गधर मध्यम खण्ड अ० 7-45 ।
21. वही, 7-84 से 87 तक ।
22. वही, 10-18 से 27 तक ।
23. वही, 10-53 से 59 तक ।
24. वही, 1-7
25. वही, 12-203 से 206 तक ।
26. वही, 142 से 146 तक ।

27. दार्वी सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत्प्रमेही ।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसानामलकीफलानाम् ॥
चरक चिकि० अ० 6-21
28. कम्पिल्लसप्तच्छदशालजालिबैभीतकरौहीतककोटजावि ॥
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥
चरक चिकित्सा अ० 6
29. निशिस्थितानां त्रिफलाकषाये स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम् ।
तान्सीधुयुक्तान्प्रपिबेत्प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ॥
चरक चिकि० अ० 6-21
30. चरकसंहिता चिकित्सा—अ० 6-26 से 31 तक ।
31. धात्रीरसप्लुतां प्राह्णे हरिद्रां माक्षिकान्विताम् । दार्वीसुराह्वात्रिफला मुस्ता वा क्वाथितो जले चित्रजत्रिफलादार्वीकलिंगान्वा समाक्षिकान् । मधुयुक्तं गुडूच्या वा रसमालकस्य वा ॥
कषाया—रोध्राभयातोयदकद्फलानां पाठाविडंगार्जुनधान्यकानाम् ॥
गायत्रिदार्वीक्रिमिहृद्वचानां कफे त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः ॥
उशीररोध्रार्जुनचंदनानां पटोलनिम्बामलकामृतानाम् ।
लोध्रांबुकालीयकधातकीनां पित्ते त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः ॥
अष्टाङ्गहृदय उत्तरार्द्ध अ० 12-5 से 8 तक
32. ततः शुद्धदेहमामलकरसेव हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्ताकषायं वा, शालकम्पिल्लकमुष्ककल्कमक्षमात्रं वा मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं, कुटजकपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा, निम्बारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि, एते पञ्च योगाः सर्वमेहानामपहन्तारो व्याख्याताः ॥
सुश्रुत चिकि० अ० 11-8
33. शार्ङ्गधर मध्यम खण्ड अ० 10-18 से 27 तक ।
34. चरक चिकित्सा अ० 6-44-46 तक ॥
35. अष्टाङ्गहृदय उत्तरार्द्धम् अ० 12-24 से 26 तक ।
36. चरक चिकित्सा अ० 6-37 व 38 तक ।
37. अष्टाङ्गहृदय उत्तरार्द्धम् 12-18 से 23 तक ।
38. शार्ङ्गधर मध्यमखण्ड अ० 7-45
39. वही, 7-84 से 87 तक ।
40. वही, 10-18 से 27 तक ।
41. वही, 53 से 59 तक ।
42. शार्ङ्गधर मध्यम खण्ड अ० 12-142 से 146 तक ।
43. वही, 203 से 206 तक ।
44. "प्रयोगानागमात्सिद्धान्प्रत्यक्षादनुमानतः ।
सर्वलोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तरात् ॥"
शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 1-6

3

दोष विवेचन

दोष परिभाषा : आयुर्वेद वाङ्मय में दोष शब्द पारिभाषिक है, और यह वात-पित्त-कफ[1] के लिए प्रयोग किया जाता है। वैसे दोष शब्द का सामान्य अर्थ—'विकार' है। इस अर्थ का हम यहाँ ग्रहण नहीं करते हैं।

शरीर को सहज ही दूषित कर देने की विशेषता रखने के कारण या किसी स्वल्प कारण से भी स्वयं विकारग्रस्त हो जाने का स्वभाव होने से इन तीनों वात, पित्त और कफ का नाम 'दोष' पड़ गया है।[2]

सन् 193? में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में त्रिदोष चर्चा परिषद् हुई थी, जिसमें दोष की परिभाषा करते हुए कहा गया कि "जो सभी प्राकृत क्रियाओं (उपचयात्मक और अपचयात्मक) का करने वाला और नियामक, स्वतन्त्र रूप से दूषणशील हो, वह वात-पित्त-कफ ही तीन दोष हैं। अन्यत्र नहीं।"[3]

इसी बात को विजयरक्षित जी ने माधवनिदान की मधुकोश टीका में कहा है कि जिसमें प्रकृति निर्माण की क्षमता हो और जिसमें स्वतन्त्रतापूर्वक देह को दूषित करने की प्रवृत्ति हो, उसे दोष कहते हैं।[4]

उपरोक्त दोष की परिभाषाओं पर हम विचार करें तो शार्ङ्गधर द्वारा दी गयी यह परिभाषा उपयुक्त लगती है कि 'दूषणाद्दोषा' अर्थात् जो शरीर को दूषित करे या स्वयं दूषित हो जाए उसे दोष कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार हम रस-रक्त आदि धातुओं को भी दोष के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं।

क्योंकि स्पष्ट देखा जाता है कि रक्त दूषित होकर शरीर को भी दूषित करता है। इस प्रसंग में यह विचारणीय है। 'दोष' शब्द आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ के लिए ही प्रयुक्त होता है। वस्तुतः ये ही हमारे सजीव शरीर के अन्दर उपचयात्मक और अपचयात्मक क्रियाओं का सम्पादन करते हैं और मानव प्रवृतियों का निर्माण करते हैं। उस समय ये समान अवस्था में रहते हैं तब स्वास्थ्य के स्थापक होते हैं किन्तु जब ये विषमावस्था में हो जाते हैं, उस समय रोगजनक होते हैं, उस समय ही ये अध्ययन के विषय बनते हैं। इसी कारण इन्हें 'दोष' शब्द से पुकारा गया है।

इस प्रकार हम वात पित्त और कफ की समष्टि को एक नाम 'दोष' देकर संक्षेप में दोष की परिभाषा निम्न प्रकार कर सकते हैं: शरीर में पैदा होने वाली क्रियाओं का जो जनक है। जो प्रकृति को पैदा करने वाला और विषय होकर रोग को पैदा करने वाला है। समावस्था में स्वास्थ्य को ठीक-ठीक रखता है, वह दोष है। वात-पित्त-कफ तीनों में ही यह लक्षण दीखते हैं। अतः यही तीनों दोष हैं, चौथा कोई दोष नहीं हो सकता।[5]

इस परिभाषा के अनुसार हम वात, पित्त और कफ को ही दोष संज्ञा दे सकते हैं। अन्य क नहीं।

दोष कितने हैं ?

शार्ङ्गधर ने दोषों की संख्या तीन बतलायी है।[6] इसके साथ-ही-साथ आयुर्वेद के ग्रन्थों में दोषों का जहाँ-जहाँ भी नाम से उल्लेख मिलता है। वहाँ-वहाँ पर इनके लिए वायु, पित्त, कफ या वायु-पित्त-श्लेष्मा शब्दों का प्रयोग हुआ है और ये संख्या में तीन हैं।[7]

ऋग्वेद में 'त्रिधातु' शब्द के द्वारा वात-पित्त-कफ इन तीन की ही चर्चा की गयी है।[8]

अथर्ववेद में भी अभ्र-वात-सुष्म—क्रमशः कफ, वात और पित्त के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[9]

अथर्ववेद में ही एक दूसरे मन्त्र में दोषों की तीन संख्या को स्वीकार करते हुए 'त्रिसप्ता' कहा है। यहाँ त्रिसप्ताः शब्द से तीन दोष (त्रि शब्द से वात-पित्त-कफ का ग्रहण करेंगे) और सात प्रकृतियों या सात धातुओं का संकेत हुआ है जो समस्त चेतन और अचेतन पदार्थों को धारण करते हुए घूम रहे हैं। वाणी का पालक उनके बलों को आज मेरे शरीर में धारण करावें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोषों की संख्या को वैदिक काल से आज तक सामान्यतः तीन ही स्वीकार की गयी है। यद्यपि रस और रक्त में भी दोष सामान्य का लक्षण अति व्याप्त होता प्रतीत होता है किन्तु आयुर्वेद शास्त्र की परम्परा में

इन उपर्युक्त वात, पित्त और कफ इन तीन को ही दोष माना गया है। रस और रक्त को दोष माना जाए अथवा नहीं इस प्रश्न पर हम आगे यथा-प्रसंग चर्चा करेंगे।

वात-पित्त श्लेष्मा शब्दों की व्युत्पत्ति

संस्कृत भाषा में अधिकांश शब्दों का मूल रहस्य उनकी मूल धातु में समाहित रहता है, जिनसे उन शब्दों की रचना होती है। इसी प्रकार त्रिदोष अर्थात् वात-पित्त-श्लेष्मा शब्दों के मूल रहस्य भी इनकी मूल धातुओं में समाहित हैं। इन शब्दों की व्युत्पत्ति जिन धातुओं से होती है वे क्रमशः निम्न प्रकार हैं।

वात व वायु शब्द की व्युत्पत्ति : आयुर्वेद में वात शब्द के पर्यायवाची के रूप में वायु, मरुत्, अनिल, पवन आदि शब्दों का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है परन्तु इनमें वात व वायु शब्द का ही मुख्यतः प्रयोग किया जाता है। 'वा गतिगन्धनयोः' वा धातु से क्त प्रत्यय होकर वात शब्द बना है। इसके अतिरिक्त वा धातु से 'तन्' प्रत्यय, और न् का लोप होकर भी 'वात' शब्द की निष्पत्ति की जा सकती है।

वायु शब्द में 'वा गतिगन्धनयोः' वा धातु से उण् प्रत्यय करके पाणिनी 'आतो युक् चिण् कृतोः' इस पाणिनि सूत्र से 'युक्' होता है और 'क्' का लोप होकर वायु शब्द बनता है।

वायु व वात दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति में मूल धातु 'वा' ही है। 'गति-गन्धनयोः' पदार्थ में गति का अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति[12] अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषय के ज्ञान की प्राप्ति, गति उत्पन्न करना और शरीर के दोषों एवं धातुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना इसका कार्य है। इसका स्पर्श गुण विशेष है। गन्ध शब्द से सभी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने वाले गन्ध, रूप आदि विषयों का ग्रहण करना चाहिए। वैसे 'गन्धन' शब्द का अर्थ उत्साह है।[13] उत्साह शब्द से मानसिक कर्मों का ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार वात शब्द से मानसिक कर्मों का ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वात शब्द से इस शरीर में गति, ज्ञान और प्राप्ति कर्मों का संचालक तथा प्रेरणा, उत्साह आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों व मन के विषयों को सम्पन्न कराने वाले उलटे का बोध कराता है।

पित्त शब्द की व्युत्पत्ति : पित्त शब्द 'तप सन्तापे' धातु से 'अच' प्रत्यय होकर फिर वर्ण विपर्यय करके और त को द्वित्व करके बनता है।[14] एक दूसरी धातु 'अपि देड़ रक्षणे (987) दो अवखण्ड ने (1173) धातु से 'अपि दीयते प्रकृतावस्था रक्ष्यते विकृतावस्था खण्डयते नाश्यते वा शरीरम् अनेन इति पित्तम्' अर्थात् जो समावस्था में रहकर शरीर की रक्षा करता है और वही क्षय या वृद्धि अवस्था को प्राप्त होकर शरीर को नष्ट कर दे उसे पित्त कहते हैं।[15]

'तप सन्तापे' जिसका अर्थ सन्ताप अर्थात् कष्ट पाना होता है। पित्त हमारे शरीर में आहार-पाक व ताप उत्पन्न करने वाला होता है अर्थात् शरीर में जो क्रियाएँ ताप के कारण होती हैं वे सभी पित्त के कारण होती हैं। ताप गुण है और पित्त उसका अधिष्ठान है।

श्लेष्मा शब्द की व्युत्पत्ति : आयुर्वेद में कफ शब्द के लिए श्लेष्मा व बलास शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

श्लेष्मा शब्द 'श्लिष आलिङ्गने' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होता है, फिर गुण होकर बनता है।[16]

कफ शब्द 'केन जलेन फलति'[17] अर्थात् जल महाभूत के द्वारा तथा आप्य द्रव्यों से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण इसे कफ कहा जाता है। आलिङ्गन का अर्थ संयोग कराना या जोड़ना, अतः श्लेष्मा वह द्रव्य है जो हमारे शरीर में एक कोष को दूसरे कोष से तथा अन्य स्थूल अवयवों को जोड़ने का कार्य करे।[18]

वात, पित्त और कफ की उत्पत्ति

सत्व-रज-तम : सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में यह स्पष्ट है कि प्रकृति सत्व, रज और तम की साम्यावस्था है। जब तक यह साम्यावस्था बनी रहती है, प्रकृति अव्यक्त रूप में रहती है परन्तु जब इस अवस्था में विकार आ जाता है, तब प्रकृति व्यक्त रूप धारण करती है। यह प्रकृति की साम्यावस्था में विकार पुरुष के संयोग से होता है अतः इस संयोग से उत्पन्न होने वाले सभी विकारों में त्रिगुण का होना अनिवार्य है क्योंकि प्रकृति में यह तीनों गुण सत्व, रज और तम उपस्थित रहते हैं। सत्व को ज्ञानशक्ति, रजस् को क्रियाशक्ति और तमस् को उपादान शक्ति के रूप में भी हम समझ सकते हैं।

इस सृष्टि के जितने चेतन-अचेतन सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ हैं, वे सभी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त हैं। इस संसार में कारण के अनुरूप ही कार्य भी दिखलाई पड़ता है और जब समस्त सृष्टि का 'उपादान कारण' मूल प्रकृति ही सत्वरजस्तमोयुक्ता है, इस त्रिगुण के अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है, तब इनसे विकसित होने वाले 24 तत्त्वों का भी त्रिगुणयुक्त होना स्वाभाविक है। इन तत्वों से निर्मित हमारा मन और 'शरीर' त्रिगुणयुक्त है।[19] गीता में भी कहा है कि ये सत्व, रज, और तम ही हैं जो इस शरीर के साथ आत्मा को भी बाँधे रहते हैं।[20] इन्हीं गुणों के आधार पर मनुष्यों में सात्विक-राजस और तामस वृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। इसीलिए सात्विक-राजस और तामस प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्णन सुश्रुतसंहिता में प्राप्त होता है।[21] तथा इनको महाप्रवृतियाँ भी कहा है।[22]

सत्व गुण लघु अर्थात् अङ्गों में लधुता उत्पन्न करने वाला, प्रकाशक अर्थात् बुद्धि को प्रकाशित करने वाला होता है, यही कारण है[23] कि पित्त प्रकृति वाले पुरुष प्रखरबुद्धि वाले होते हैं क्योंकि पित्त में सत्व गुण प्रधान होता है।

रजोगुण उत्तेजना उत्पन्न करने वाला, नित्यगतिमय और संयोगकारक भाव है, यह प्रकृति का प्रवृत्तिजनक या प्रेरक अंश है। वायु रजोबहुल है अतः वात-प्रकृति के मनुष्यों में यह स्पष्ट देखा जाता है कि वे अधिक बोलने वाले और अस्थिर बुद्धि के होते हैं। यह सब रज के चल गुण के कारण होता है।

तम गुण आवरणकारक और गुरुभाव है। यह प्रकृति का नियामक या अव-रोधक अंश है और विषादात्मक है। यही कारण है कि कफज प्रकृति वाले मनुष्य शरीर से स्थूल होते हैं और उनकी बुद्धि भी तम से प्रभावित रहती है। उनके कार्य-कलाप मन्द रहते हैं। यह सब कफ दोष में तम गुण के कारण ही होता है।

इस प्रकार इन तीनों गुणों में सत्व को हम मूलप्रकृति का प्रकाशक या बौद्धिक भाग कह सकते हैं। रज को क्रियाशील और प्रेरणा करने वाले अंश समझ सकते हैं, तथा आवरक और नियामक धर्म तमोगुण का है।[24] इन्हीं तीनों भावों की पृथक्-पृथक् सत्ता एवं सम्मिलित क्रियाओं द्वारा सृष्टि का उद्भव और विकास होता है।

सत्व रज, और तम का कार्य और प्रभाव क्षेत्र मन है जो कि शारीरिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। सत्वप्रकाश स्वरूप ज्ञानमय आनन्दप्रद होने के कारण इसकी मानस दोष में गणना नहीं की गयी है, केवल रज और तम को ही चिकित्सा क्षेत्र में दोष स्वीकार किया गया है।[25]

पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति : सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में ही शार्ङ्गधर ने पञ्च-तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति बताते हुए कहा है कि इन पाँच तन्मात्राओं से फिर पाँच महाभूत उत्पन्न हुए वे क्रमशः इस प्रकार हैं शब्दतन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से अग्नि, रसतन्मात्रा से जल और गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई।[26]

इन पञ्चमहाभूतों के अपने-अपने इन्द्रियग्राह्य गुण भी बताये हैं जैसे---आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथ्वी का गन्ध।[27]

उपरोक्त पञ्चमहाभूत प्रकृतिमय हैं अर्थात् सत्व, रज और तम प्रकृति के इन गुणों से युक्त हैं क्योंकि त्रिगुणात्मक अहंकार से इनकी उत्पत्ति बतलाई गयी है। इन पञ्चमहाभूतों में सत्व-रज-तम की प्रधानता निम्न प्रकार पायी जाती है :

पृथ्वी	—	तमो बहुल
जल	—	सत्वतम बहुल
तेज (अग्नि)	—	सत्वरज बहुल
वायु	—	रजो बहुल
आकाश	—	सत्व बहुल।[28]

तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चभूतों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार बतलाया है। आत्म तत्व से आकाशतत्व, आकाश से वायुतत्व, वायु से अग्नि तत्व, अग्नि से अप् तत्व, अप् से पृथ्वी तत्व उत्पन्न होते हैं।[29]

पञ्चमहाभूतों से त्रिदोष की उत्पत्ति

पञ्चमहाभूतों से वात-पित्त-कफ की उत्पत्ति होती है। वात दोष आकाश और वायु महाभूत से पैदा होता है। अग्नि महाभूत से पित्त दोष तथा जल और पृथ्वी महाभूत से श्लेष्मा पैदा होता है।[30]

काश्यपसंहिता में भी वात, पित्त और कफ के दो-दो देवता बताये गये हैं। जिनके आश्रित ये तीनों दोष रहते हैं। वात के देवता वायु और आकाश, पित्त के देवता अग्नि और आदित्य तथा कफ के देवता सोम और वरुण।[31]

इस कथन से भी यही तथ्य स्पष्ट होता है कि वात, दोष, वायु और आकाश महाभूत से, पित्त अग्नि महाभूत से तथा कफ, जल और पृथ्वी महाभूत के आश्रित हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति इन्हीं से हुई है।

वात, पित्त और कफ पर सत्व, रज और तम इन तीनों ही गुणों का प्रभाव होता है परन्तु फिर भी इनमें से वायु रजोबहुल है, पित्त सत्वगुण बहुल है तथा श्लेष्मा तमोगुण बहुल होता है।[32]

इस बहुलता का ही यह परिणाम है कि वात में रजस् की क्रियाशीलता, पित्त में सत्व की ज्ञानप्रकाशकता और श्लेष्मा में तमस् का जाड्य-भाव आदि प्रमुख प्रगट होते हैं।

इस प्रकार वात, पित्त और कफ के रूप में पञ्चमहाभूतों का प्रतिनिधित्व हमारे शरीर में होता है इसीलिए कहा है कि इस चेतन शरीर में पञ्चमहाभूतों को ही वात, पित्त और कफ इन नामों से पुकारा जाता है। अतः आयुर्वेद में इन्हीं वात, पित्त और कफ को शरीर का आरम्भक तथा संचालक कहते हैं।[33]

इसको हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि हमारे शरीर में आहारस्वरूप या अन्य स्रोतों से जो पञ्चमहाभूत पहुँचते हैं, वे शरीर रूप ग्रहण कर लेने के उपरान्त, जहाँ अन्य धातु उपधातु और मलों में परिणत होते हैं वहाँ वे ही, वात, पित्त श्लेष्मा के रूप में भी परिणत होते हैं। इस प्रकार वात-पित्त के मूल उपादान द्रव्य पञ्चमहाभूत ही हैं।[34]

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वात-पित्त-कफ की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से ही हुई है। अर्थात् ये तीनों पाञ्चभौतिक हैं परन्तु मुख्यतः वायु आकाश महाभूत से वायु, अग्नि महाभूत से पित्त और पृथ्वी तथा जल महाभूत से श्लेष्मा की उत्पत्ति हुई।

वात दोष की प्रधानता

गत्यर्थक 'वा' धातु से निष्पन्न वात या वायु शब्द शरीर के जिस तत्व का बोध कराता है, वह द्रव्य ही शरीर में जो भी ऐच्छिक और अनैच्छिक चेष्टाएँ होती हैं, उन सभी का कारण है।[35]

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ और पित्त तब तक पङ्गुवत् हैं, जब तक वायु इनके प्रसार में सहायक न हों अर्थात् शरीर में किसी भी प्रकार की होने वाली गति में वायु दोष कारणभूत है।[36]

वायु के संयोग से ही रसादि धातुओं को शिराओं एवं धमनियों में बहाकर शरीर की सर्वधातुओं का पोषण करती है। अतः शरीर पोषण व्यापार में वायु ही मुख्य रूप से भाग लेती है।[37]

महर्षि चरक ने वायु तत्व को वायु का पर्याय मानते हुए कहा भी है कि वायु ही वायु है। वायु शरीर को धारण करने से या शरीर धातुओं का नियामक होने से तन्त्रधर तथा अवयवों को धारण करने से यन्त्रधर होती है। यह वायु सम्पूर्ण शरीर को धारण करने के लिए पञ्चधा विभक्त होकर भिन्न-भिन्न अंगों में रह कर कार्य करती है। जैसे—गर्भावस्था में अस्थि और पेशियों को जोड़ती है, वाणी को प्रवृत्त कराती है, वायु ही स्पर्श और शब्द की प्रकृति है, वायु के द्वारा ही स्पर्श ज्ञान की उत्पत्ति होती है, शब्द ज्ञान में भी वायु का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यही कान व त्वचा के निर्माण में मूल कारण हैं। शरीर को दूषित करने वाले मलों को वायु ही बाहर निकालती है। इस प्रकार प्राकृत वायु शरीर के प्रत्येक कर्म को ठीक ढंग से करती हुई वायु को स्थिर रखने में कारणभूत है?[38]

वात, पित्त और कफ तीन ही दोष हैं, चौथा दोष रक्त क्यों नहीं ?

आयुर्वेद में 'त्रिदोष' शब्द से वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों का ग्रहण होता है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वात-पित्त-कफ को ही क्यों 'दोष' संज्ञा दी गयी, रक्त को चौथा दोष क्यों नहीं स्वीकार किया गया? जबकि शरीर के लिए दोषों की ही भाँति रक्त भी महत्वपूर्ण धातु है, उसके बिना भी शरीर स्थिर नहीं रह सकता है।

रक्त को चौथा दोष स्वीकार करने में निम्न कारण दे सकते हैं। यथा :

(1) शार्ङ्गधर के अनुसार जिस प्रकार वात, पित्त और कफ शरीर का धारण करते हैं, उसी प्रकार रक्त भी शरीर का धारक है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए रक्त के विषय में कहा है कि रक्त हृदय से धमनियों तथा सर्वशरीर में फेंका जाता है और सब धातुओं का पोषण करता है। इसलिए यह सर्वशरीरस्य है और जीव का

श्रेष्ठ आधार है अर्थात् रक्त के ऊपर ही प्राणियों का जीवन अवस्थित है, यदि रक्त क्षय हो जाय तो जीव मर जाता है। रक्त का स्वरूप बतलाते हुए शार्ङ्गधर ने कहा है कि यह स्निग्ध, भारी, चल अर्थात् अस्थिर क्योंकि अरहः शरीरपालनार्थ भ्रमण करता रहता है और स्वादुगुण युक्त है रक्त जब विदग्ध होता है तो पित्त-सा होता है अर्थात् अम्ल और कटु हो जाता है।[39]

शार्ङ्गधर के दीपिका—टीकाकार आढमल्ल ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[40]

सुश्रुत के मतानुसार रक्त भी वैसा ही शरीर धारक है जैसा कि त्रिदोष जैसे—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में शरीर इन वात-पित्त-कफ और चौथे रक्त से संयुक्त रहता है।[41]

और भी सुश्रुत ने शरीर का मूल (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण) रक्त ही है, रक्त से ही शरीर का धारण होता है इसलिए यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए।[42]

अन्यत्र भी कहा है कि न तो यह शरीर कफ के बिना, न पित्त के बिना, न वायु के बिना और न रक्त के बिना स्थिर होता है अपितु ये चारों ही शरीर धारण करने से शरीरधारक हैं।[43] अतः शार्ङ्गधर व सुश्रुत के इन उद्धरणों के आधार पर वात, पित्त और कफ के समान शरीर धारक होने से रक्त को भी चौथा दोष मानना चाहिए।

(2) शार्ङ्गधर ने जहाँ रोग गणना की है, वहाँ पर वात रोग, पित्त रोग और कफ रोगों के साथ-साथ रक्त रोगों की भी गणना की है। जैसे—रक्तमण्डल, रक्तनेत्र, रक्तमूत्रता, रक्तनिष्ठीवन आदि।[44] इस प्रकार वात-पित्त-कफ के समान ही रक्त को भी महत्व दिया गया है।

सुश्रुत संहिता के 'द्विव्रणीय चिकित्सा' नामक अध्याय में व्रण रोग के भेद करते हुए वातज, पित्तज, कफज भेद के साथ-साथ रक्तज भेद भी किया है, इसके साथ ही वात रक्तज, पित्त रक्तज, कफ रक्तज और वात कफ रक्तज भी भेद किया है, वहाँ स्थान-स्थान पर वात-पित्त-कफ के साथ रक्त का भी उल्लेख मिलता है।[45] इस प्रकार वात-पित्त-कफ के समान ही रक्त को भी महत्व दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि रक्त की दोष संज्ञा वातादि के समान ही शास्त्र-सम्मत है।

(3) यूनानी चिकित्सा ग्रंथों में सौदा-सफरा-बलगम के साथ खून या रक्त को भी चौथा दोष स्वीकार किया है। अतः इसी आधार पर अयुर्वेद में भी वात-पित्त-कफ के साथ रक्त को भी चौथा दोष क्यों न स्वीकार कर लिया जाए ?[46]

(4) सुश्रुतसंहिता के 'व्रणप्रश्न' नामक अध्याय में जिस स्थान पर दोषों के स्थान और संचय के कारण बताये हैं, उसी स्थान पर उसी प्रसंग में उन्होंने 'रक्त' के स्थान एवं स्वरूप का वर्णन किया है।[47] शार्ङ्गधर संहिता में भी रक्त का स्वरूप-

वर्णन करते हुए कहा है कि रक्त स्निग्ध, गुरु, चल, स्वादु और विदग्ध पित्त के समान होती है।[48]

इस अवतरणों के अनुसार 'रक्त' को स्पष्ट रूप से 'दोष रूप' में प्रस्तुत कर दिया है।

(5) शार्ङ्गधर संहिता एवं सुश्रुतसंहिता में कई रोगों में जहाँ वातज-पित्तज और कफज रोगों के भेद किए हैं वहीं पर दोषानुसार भेदों के साथ-ही-साथ रक्तज भेद भी किए हैं। इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि रक्त को भी दोषों के समकक्ष रखा है। उदाहरणार्थ शार्ङ्गधर, सुश्रुत, चरक, अष्टाङ्ग हृदय में वर्णित रोगों के भेदों की तुलनात्मक निम्न तालिका प्रस्तुत है, जिसमें रोगों के भेदों में रक्तज भेद किए हैं। (तालिका पृ० 33 पर देखें)

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि शार्ङ्गधर में वर्णित 24 रोगों में से सभी का वातज-पित्तज-कफज के साथ 'रक्तज' भेद भी किया गया है और इसी के साथ सुश्रुत ने केवल प्रवाहिका का 'रक्तज' भेद नहीं किया है अन्यथा शेष सभी रोगों के 'रक्तज' भेद किए हैं। चरक संहिता में केवल चार रोगों के ही रक्तज भेद किए हैं (गुल्म, पित्तज मेह, वृद्धि, वातरक्त) और अष्टाङ्ग हृदय में केवल चार रोगों (प्रवाहिका, अर्श, कर्ण मूल रोग, योनिरोग) को छोड़कर शेष सभी का 'रक्तज' भेद किया है।

इस प्रकार शार्ङ्गधर संहिता व सुश्रुत संहिता के रोगों के भेदानुसार भी रक्त को चौथा दोष स्वीकार कर सकते हैं।

शार्ङ्गधर संहिता एवं अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों में रोगों की गणना में रक्तपित्त, वातरक्त आदि नामों में दोषों के साथ ही रक्त को भी जोड़ा गया है।[49] इससे भी रक्त को दोषों के समान ही महत्व ज्ञात होता है।

उपरोक्त सभी प्रश्नों एवं शङ्काओं का समाधान निम्न प्रकार कर सकते हैं।

1 (क) शार्ङ्गधर संहिता में जो रक्त को 'शरीरधारक' बतलाया गया है, उसका कारण केवल अन्य धातुओं की अपेक्षा रक्त की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए ही कहा गया है वैसे शार्ङ्गधर ने स्पष्ट रूप से वात-पित्त-कफ ये तीन ही दोष स्वीकार किए है।[50] यदि शार्ङ्गधर ने वात-पित्त-कफ के साथ चौथा दोष रक्त को भी स्वीकार किया होता तो दोषों के साथ ही स्पष्ट रूप में रक्त का भी उल्लेख होना चाहिए था।

1 (ख) सुश्रुतसंहिता में वर्णित "एभि एव शोणितचतुर्थैः" इस सन्दर्भ के द्वारा यह सिद्ध किया है कि रक्त को चौथा दोष मानना चाहिए परन्तु इससे केवल वात-पित्त-श्लेष्मा के साथ-साथ रक्त का उल्लेख होने से 'रक्त' की महत्ता ही दृष्टिगोचर होती है चौथा दोष नहीं क्योंकि व्रण प्रश्नाध्याय के प्रारम्भ में ही स्पष्ट

तालिका—चार

रोगों के वातज-पित्तज-कफज भेदों के साथ-साथ रक्तज भेदों की तुलनात्मक तुलना

नाम रोग	शाङ्गंधर संहितायाम्			सुश्रुते:			चरके			अष्टाङ्ग हृदये		
	खण्ड	अध्याय	श्लोका:	स्थान	अध्याय	श्लोका	स्थान	अध्याय	श्लोका:	स्थान	अध्याय	श्लोका:
1		2			3			4			5	
1. प्रवाहिका	1	7	8		×			×			×	
2. अर्श	,,	,,	12	नि०	2	3		×			×	
3. मद	,,	,,	33	सू०	47	97		×		नि०	6	26
4. गुल्म	,,	,,	52	उ०	42	7	नि०		1-31	,,	11	31
5. पित्तज मेह	,,	,,	61	नि०	6	8	,,	4	28-34	,,	10	14-15
6. वृद्धि	,,	,,	66	,,	12	3	चि०	12	91	,,	11	23
7. ग्रन्थि	,,	,,	67	,,	11	4-8		×		चि०	29	12
8. व्रण	,,	,,	71	सू०	22	7		×		उ०	25	5
9. अर्बुद	,,	,,	68-69	नि०	11	14		×		,,	29	15
10. उपदेश	,,	,,	82	,,	13	8		×		,,	33	5
11. वातरक्त	,,	,,	103-104	,,	1	45-46	चि०	28	23	नि०	16	14-16

1		2		3			4	5		
12. ओष्ठ रोग भेदाः	1	7	128-129	नि०	16	5	×	उ०	21	64-65
13. दत्तभूल रोगाः	,,	,,	131-132	,,	16	13	×	,,	,,	,,
14. मुखान्तर्गत रोगाः	,,	,,	140	,,	16	3	×	,,	,,	,,
15. कर्ण रोग भेदः	,,	,,	142-143	उ०	20	3-5	×	,,	5	6-7
16. कर्ण भूल रोग भेदाः	,,	,,	145	,,	,,	,,	×	×		
17. नासारोग भेदाः	,,	,,	146-147	,,	22	3-5	×	उ०	12	8
18. शिरो रोग भेदाः	,,	,,	148-150	,,	7	27	×	,,	19	32
19. काच रोग भेदाः	,,	,,	163	,,	7	27	×	,,	23	11
20. तिमिर रोग भेदाः	,,	,,	164	,,	7	18-24	×	,,	,,	,,
21. किङ्गनाशः	,,	,,	165	,,	,,	,,	×	,,	,,	,,
22. अभिष्यन्द रोगाः	,,	,,	168	,,	7	9	×	,,	15	8
23. अधिमन्थरोगाः	,,	,,	169	,,	,,	12-19	×	,,	15	3
24. योनिरोग भेदाः	,,	,,	178-179	,,	38	6 से 8	×			×

किया गया है कि—शरीर की उत्पत्ति का कारण वात, पित्त, कफ है। यह तीनों प्राकृत अवस्था में क्रमशः अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्वभाग में स्थिर रहते हैं तथा तीन स्तम्भों के समान शरीररूपी गृह को धारण करते हैं। वातादि तीन खम्भों के समान हैं अतः शरीर को त्रिस्थूण भी कहा जाता है। विकृत होकर यह दोष शरीर को नष्ट कर देते हैं।[51] इसके उपरान्त कहा है कि यह तीनों दोष रक्त के साथ मिलकर शरीर को नष्ट कर देते हैं। अतः इससे उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि 'शरीरधारक तत्व' के रूप में, केवल वात, पित्त, श्लेष्मा इन तीन को ही महत्व प्राप्त है अर्थात् 'देहधारक तत्व' के रूप में रक्त को मान्यता देना ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं है।

सुश्रुत के इसी अध्याय में एक श्लोक में वात, पित्त, कफ को ही केवल 'देह-धारक तत्व' के रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य और वायु ये तीनों विसर्ग, आदान एवं विक्षेप इन कार्मों से जगत् का धारण करते हैं, उसी प्रकार कफ, पित्त और वायु अपने कार्यों से इस शरीर का धारण करते हैं। यहाँ पर 'देहधारक तत्व' के रूप में रक्त का उल्लेख नहीं है। अतः रक्त चौथा दोष नहीं है।[52]

2. शार्ङ्गधर ने रोगगणना करते हुए वात, पित्त और कफ रोगों के साथ-साथ रक्त रोगों की भी गणना की है। इससे कुछ रोगों में जैसे रक्तमूत्रता तथा रक्तनिष्ठीवन में रक्त सीधा ही शरीर से बाहर निकलता है। इसलिए इन रोगों से रक्त का सीधा सम्बन्ध होने से, इनकी रक्तरोगों में गणना की गई है। इसी प्रकार रक्तमण्डल व रक्तनेत्र में भी रोग की स्पष्ट पहचान के लिए इनको रक्त-रोगों में कहा गया। वैसे भी शार्ङ्गधर संहिता में वर्णित रोगों की गणना सुश्रुत-संहिता से बहुत कुछ साम्य रखती है। सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है। अतः रक्त की प्रधानता के कारण शार्ङ्गधर ने भी रक्त रोगों का वर्गीकरण किया है। परन्तु जिस प्रकार वात आदि दोष सभी रोगों के रोगोत्पत्ति के कारण बनते हैं, उस प्रकार 'रक्त' सब जगह रोगोत्पत्ति का कारण नहीं बन पाता। अतः कामचिकित्सा प्रधान ग्रन्थों में रक्त की प्रधानता नहीं दी गई है। सामान्यतः शल्यप्रधान ग्रन्थ जैसे सुश्रुतसंहिता में रक्त को अन्य धातुओं की अपेक्षा कुछ अधिक महत्व दिया गया है। इनमें रक्त को 'दूष्य' के रूप में महत्व दिया गया है परन्तु 'दोष' के रूप में नहीं।

3. यूनानी ग्रंथकारों ने जो रक्त को चौथा दोष स्वीकार किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है कि उन्होंने जो सुश्रुत में रक्त को प्रधानता दी है, उसी के आधार पर मान लिया इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी ग्रन्थकार भी सुश्रुत का आशय ठीक ढंग से नहीं समझ पाए और अपना भ्रमपूर्ण मत स्थापित कर लिया जैसा कि अपने यहाँ भी कुछ लोगों ने रक्त को 'चौथा दोष' स्वीकार किया

है।[53] यद्यपि यूनानी चिकित्सा में 'रक्त' से उत्पन्न रोग माने जाते हैं परन्तु वहाँ भी कुछ एक रोगों का ही कारण रक्त को माना है। सब रोगों को नहीं जैसे श्वांस रोग रक्तज नहीं माना है। यूनानी चिकित्सा पद्धति के अनुसार आहार के पाचन-जन्य प्रसाद भाग से रक्त बनता है। जब तक यह किसी दोष से दूषित नहीं होता है तब तक रोगों को उत्पन्न नहीं करता अतः यूनानी चिकित्सक भी यह स्वीकार करते हैं कि बिना दोष के दूषित हुए शुद्ध रक्त से रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है। जब तक किसी 'दोष' के साथ मिलकर मलिन नहीं होता। यूनानी क्रम के अनुसार यदि रोगजनक होने मात्र से रक्त को दोष मानना चाहेंगे तो मदेसू, मांस, शिरा आदि को रोगजनक मानना होगा जो किसी को अभीष्ट नहीं है। अतः रक्त को दोष मानना अभीष्ट नहीं है।

4. सुश्रुत के व्रणप्रश्नाध्याय में दोषों के स्थान वर्णन के साथ-साथ रक्त का स्थान एवं स्वरूप का वर्णन किया है, उससे भी 'रक्त' को 'दोष' श्रेणी में नहीं रख सकते क्योंकि रक्त के साथ-साथ शुक्र, ओज[54] आदि के भी स्थानों का वर्णन भी प्राप्त होता है। अतः यदि स्थान वर्णन के आधार पर रक्त को चौथा दोष मानेंगे तो शुक्र और ओज को भी 'दोष' मानना पड़ेगा। अतः यहाँ पर रक्त का स्थान वर्णन से, अन्य धातुओं की अपेक्षा उसका महत्वपूर्ण होना ही दर्शाता है, दोषों की श्रेणी में होना नहीं।

5. शार्ङ्गधर संहिता में वर्णित रक्तज रोगों की तालिका से भी यही स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार सुश्रुत संहिता में रोगों के भेदों में दोषों के साथ रक्तज भेद किए हैं, उसी प्रकार शार्ङ्गधर संहिता ने भी रोगों के रक्तज भेद किए हैं। कुछ-कुछ अष्टाङ्गहृदय से भी साम्य है परन्तु चरक से बिल्कुल नहीं है। अतः इससे यही स्पष्ट होता है कि सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है और उसी का आधार लेकर शार्ङ्गधर संहिता का निर्माण किया गया है। इसीलिए रक्त की प्रधानता को स्वीकार करते हुए रोगों के भेदों में रक्तज भेद किए हैं। शार्ङ्गधर ने रक्तज प्रवाहिका का भी भेद किया है परन्तु चरक, सुश्रुत व अष्टांगहृदय इन तीनों में इसका वर्णन नहीं मिलता है। चरक ने तो अतिसार के अन्तर्गत ही प्रवाहिका को स्वीकार किया है। इससे भी ऐसा स्पष्ट होता है कि रक्तज प्रवाहिका में प्रवाहण के साथ 'रक्तयुक्त मल' आता है अतः मल के साथ रक्त आने के कारण ही रक्तज प्रवाहिका का भेद किया है। चरक आत्रेय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है अतः उसमें काम चिकित्सा प्रधान होने के कारण रोगों का रक्तज भेद नहीं किया है। रोगों के भेदों के अन्तर्गत भेदज, मांसज, शिराज[55] आदि भी भेद किए गए हैं अतः इन्हें भी हमको दोष के अन्तर्गत मानना पड़ेगा परन्तु यह भी किसी को अभीष्ट नहीं है। इनका नामकरण केवल दूष्य होने के कारण किया गया है। अतः इस आधार पर रक्त को चौथा दोष नहीं स्वीकार कर सकते।

शार्ङ्गधर संहिता आदि चिकित्सा ग्रन्थों में कुछ विशिष्ट रोगों जैसे रक्तपित्त और वातरक्त का उल्लेख किया गया गया है इनमें निम्न कारण हैं :

कभी-कभी जिस रोग की उत्पत्ति दो कारणों से होती है, उनमें जिसको प्रधानता देनी होती है उसी के आधार पर उसका नामकरण कर दिया जाता है। कहीं-कहीं पर दूष्य के आधार पर भी नामकरण किया है जैसे रक्तपित्त में रक्त दूष्य है। इसी प्रकार अन्य नामों का भी नामकरण किया गया है। अतः जहाँ पर भी रक्त को रोगों के नाम के साथ जोड़ा गया है, वहाँ पर उसका 'दूष्य' रूप में महत्व है न कि 'दोष' रूप में।

6· सुश्रुतसंहिता के 'दोष-धातु-मलक्षयवृद्धिविज्ञानीय, नामक अध्याय में वातादि दोषों के वर्णन के उपरान्त इस धातु का वर्णन किया गया है और रस धातु के बाद इसी धातुवर्णन के प्रसंग में रक्त का वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महर्षि सुश्रुत ने रक्त को, रस धातु के समान ही 'रक्त' को भी धातु ही माना है रक्त को 'दोष' नहीं।

8. संहिता ग्रन्थों में प्राप्त विवेचन के आधार पर 'दोष' अपने-अपने वर्द्धक कारणों से अपने-अपने आशयों में संचित होकर अपने-अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर अपने-अपने आशयों से निकलकर शरीर में नानात्मज रोगों को पैदा करता है। वही दुष्टि का कर्त्ता होने से 'दोष'[56] कहलाता है।

ये विशेषताएँ केवल वात, पित्त, श्लेष्मा में ही परिलक्षित होती हैं। रक्त में ये विशेषतायें नहीं हैं क्योंकि वह दोषों के द्वारा दूषित किए जाने से दूष्य है स्वयं वह स्वतन्त्र रूप से किसी को दूषित करके रोग पैदा नहीं करता अतः इसे दोष संज्ञा नहीं दी जा सकती।

9. रक्त के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह भी है कि वात, पित्त और कफ प्रत्येक दोष के अपने-अपने प्रकोपक कारण माने गए हैं[57] परन्तु रक्त के प्रकोप का अपना कोई स्वतन्त्र कारण नहीं माना गया है अपितु वात, पित्त, कफ को ही इसके प्रकोप का कारण कहा गया है अथवा जिन कारणों से वात, पित्त, कफ प्रकुपित होते हैं, वे ही कारण, रक्त प्रकोप के भी हो सकते हैं परन्तु रक्त के प्रकोप में किसी 'दोष' का प्रकुपित होना अनिवार्य है अर्थात् यदि वात के प्रकोपकाल में रक्त का प्रकोप हो तो वायु दोष से ही रक्त का प्रकोप हुआ है ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार यहाँ भी रक्त को दोषों का अनुगामी मानते हुए रक्त का प्रकोप दोषों के अधीन माना है।[58]

10. सुश्रुत के 'शोणितवर्णनीय' अध्याय में वातदुष्टशोणित, पित्तदुष्ट-शोणित इत्यादि के रूप में दूषित रक्त के दोषानुसार अलग-अलग लक्षण लिखे हैं। इस अध्याय में दूषित रक्त के अनेक भेदों के साथ-साथ दोषों का तो दुष्टिकर्त्ता के रूप में उल्लेख किया है परन्तु 'दोष भेद विकल्प' नामक 66वें अन्तिम अध्याय में

रक्त का कहीं नाम नहीं है, जहाँ अन्त में दोषों के भेदों की विवेचना की गई है बल्कि स्पष्ट रूप में 'तीन दोष' ही स्वीकार किए हैं।[59] इससे यही प्रकट होता है कि रक्त को 'दोष' ग्रन्थकार ने नहीं स्वीकार किया है।

11. यदि हम रक्त को चौथा दोष स्वीकार भी कर लें तो दोष की परिभाषा उस पर खरी उतरनी चाहिए परन्तु दोष की परिभाषा रक्त पर ठीक नहीं उतरती है क्योंकि दोष की परिभाषा करते हुए कहा है कि—शरीर में पैदा होने वाली क्रियाओं का जो जनक है। जो प्रकृति को पैदा करने वाला और विषम होकर रोग को पैदा करने वाला है और समावस्था में स्वास्थ्य को ठीक रखता है, वह दोष है। वात, पित्त, कफ तीनों में ही ये लक्षण स्पष्ट हैं परन्तु रक्त में नहीं हैं अतः स्पष्ट है कि एक चौथा दोष नहीं है।[60]

12. शुक्र शोणित संयोग के समय दोषों की उत्कटता के आधार पर प्रकृति का निर्माण होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में जहाँ वातज, पित्तज आदि प्रकृतियों[61] का ही वर्णन मिलता है। वहाँ कहीं पर रक्तज प्रकृति का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। यदि रक्त को दोष मानते तो उसका भी प्रकृति निर्माण में योगदान होना चाहिए था और रक्तज प्रवृति भी होती परन्तु ऐसा है नहीं अतः रक्त चौथा दोष नहीं है।

13. दोषों के आधार पर अग्नियों के भी भेद किये गये हैं जैसे वात से विषमाग्नि, पित्त से तीक्ष्णाग्नि, कफ से मन्दाग्नि और दोषों की समता से समाग्नि[62] परन्तु रक्त से सम्बन्धित किसी भी अग्नि का उल्लेख नहीं मिलता है। यदि रक्त को दोष मानते तो रक्त से सम्बन्धित अग्नि 'रक्ताग्नि' आदि का उल्लेख होना चाहिए था। अतः रक्त चौथा दोष नहीं है।

14. आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से 'रक्त' को दोषसंज्ञा कहीं भी प्रदान नहीं की गई है जबकि इसके विपरीत स्पष्ट रूप से वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों को ही स्वीकार किया गया है। यथा—महर्षि चरक ने कहा है कि—वायु, पित्त और कफ यह तीनों शरीर दोष हैं।[63]

इसी प्रकार वाग्भट्ट ने भी कहा है कि वात, पित्त और कफ यह तीन दोष संक्षेप में कहे गये हैं।[64] इससे कुछ लोगों में यह भ्रान्ति हो गई कि संक्षेप में तो तीन ही दोष हैं, और विस्तार में अधिक दोष भी होंगे परन्तु ऐसी बात नहीं है यहाँ पर आचार्य वाग्भट्ट ने दोषों को संक्षेप में, केवल नाम लेकर कहा है पुनः उन्हीं का आगे विस्तार रूप से उनके भेद एवं स्वरूप आदि का वर्णन किया जायेगा क्योंकि संक्षेप का ही विस्तार बाद में संभव होता है, उसमें किसी अन्य का समावेश नहीं किया जाता।

महर्षि सुश्रुत ने भी देहसम्भव हेतु के रूप में वात, पित्त, श्लेष्मा ये तीन दोष ही कहे हैं।[65]

भावप्रकाशकार ने भी कहा है कि वात, पित्त और कफ संक्षेप में यह तीन दोष ही हैं।[66]

इस प्रकार उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हुआ कि निश्चित रूप से रक्त चौथा दोष नहीं है। दोषों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो रक्त में नहीं पाई जाती हैं।

दोषों में प्रथम विशेषता यह है कि ये मानव प्रकृति के जनक हैं। गर्भाधान के समय शुक्र-शोणित संयोग के समय जिस दोष की प्रबलता होती है, उसी के अनुसार गर्भस्थ शिशु की प्रकृति का निर्माण होता है। यह मृत्युपर्यन्त बनी रहती है। इस प्रकृति के अनुसार ही शिशु के शरीर और मन का विकास होता है।

शार्ङ्गधर संहिता में भी वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृतियुक्त पुरुषों के लक्षणों का वर्णन मिलता है किन्तु रक्त के द्वारा इस प्रकार की किसी प्रकृति के निर्माण की चर्चा तक नहीं है और न ही किसी रक्तज प्रकृति के लक्षण ही किसी पुरुष में देखने को मिलते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि रक्त में 'मानव प्रकृति निर्माण' करने की विशेषता स्पष्ट रूप में नहीं पाई जाती।

दोषों की दूसरी विशेषता यह है कि शरीर को स्वस्थ और अस्वस्थ रखने में स्वतन्त्ररूप से 'कारण' होना। रक्त दूषित होकर रोगोत्पादन कर सकता है परन्तु वह इस कार्य के लिए स्वतन्त्र नहीं है। पहले 'दोषों' द्वारा वह दूषित होगा तभी रोगोत्पादक हो सकता है।

इसी प्रकार शुद्ध रक्त व्यक्ति को स्वस्थ रखने में आवश्यक तो है परन्तु केवल शुद्ध रक्त से शरीर स्वस्थ रहेगा ऐसी बात नहीं है। यदि रक्त शुद्ध भी हो और दोषसाम्य न हो तो व्यक्ति स्वस्थ नहीं रहेगा कहा भी है कि "दोषसाम्यमरोगता" यह विशेषता रक्त में उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार इस विवेचन द्वारा स्पष्ट हुआ कि रक्त को या किसी अन्य को हम दोष नहीं मान सकते 'शारीर दोष' केवल वात, पित्त, कफ तीन ही स्वीकार किये गये हैं।

दोषसाम्य आरोग्य

आयुर्वेद के महर्षियों के अनुसार ये वात-पित्त-कफ साम्यावस्था में रहकर मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों ओर कर्मेन्द्रियों तथा मन उभयेन्द्रिय को स्वस्थ रखते हुए उसे बल-वर्ण-सुख से सम्पन्न बनाकर दीर्घायु प्रदान करते हों।[67]

दोषो के साथ-साथ धातु ओर मलों की भी साम्यावस्था होनी चाहिए तभी शरीर स्वस्थ रह सकता है। यदि दोष धातु मल की साम्य हों ओर मन, आतमा तथा इन्द्रियाँ प्रसन्न न हों अर्थात् अपने-अपने कार्यों में रुचि न रखती हों तो भी

मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता है। अतः महर्षि सुश्रुत ने स्वस्थ की परिभाषा करते हुए कहा है कि—धातुओं और मलों की क्रियाएँ सम हों, अर्थात् अन्न का पाचन ठीक प्रकार से होता हो तथा अन्न रस से बनने वाली रस रक्त आदि धातुओं का पोषण ठीक प्रकार से हो रहा हो तथा मलों (पुरीष, मूत्र, श्वेद आदि) का विसर्जन ठीक प्रकार से हो रहा हो एवं जिसका मन, आत्मा व इन्द्रियाँ प्रसन्न हों।[68] इन लक्षणों वाला पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि इस युग में कथा, मन और आत्मा स्वस्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी वस्तु से मानसिक रूप से परेशान रहता है। अतः इनको स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक होता है कि मनुष्य सद्वृत्त आचार रसायन अच्छे आहार-विहार का सेवन करे ताकि उसका यह जन्म ओर पुनर्जन्म सुधर सके। यही स्वस्थ का लक्षण है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित इस स्वास्थ की परिभाषा के आधार पर ही विश्वस्वास्थ्य संगठन ने भी हेल्थ की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति भौतिक, सामाजिक तथा मानसिक दृष्टि से ठीक प्रकार से जीवनयापन कर रहा है व स्वस्थ व्यक्ति है।[69]

काश्यपसंहिता में भी दोषसमता को ही आरोग्य का लक्षण बतलाया है और कहा है कि यह दोषसमता ही सब प्रकार के शारीरिक व मानसिक विकारों का नियामक है तथा देहवृद्धि वर्ण-बल-ओज-अग्नि-मेधा-आयु और सुख का कारण है।[70]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दोष हमारे शरीर में किस काल में साम्यावस्था में हैं और किस समय में विषमावस्या में हैं, इसका निर्धारण किस प्रकार करेंगे। सुश्रुत के अनुसार इसके निर्धारण करने का उपाय यह है कि जब शरीर में दोष-धातु-अग्नि-मल समान अवस्था में होंगे, उस समय शरीर स्वस्थ होगा और जब विषमावस्था में होंगे तब शरीर में रोगों के लक्षण प्रगट होने लगेंगे। अतः शरीर का स्वस्थ रहना ही समता का आधार है अन्य किसी हेतु पर निर्धारित नहीं कर सकते।[71]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब हमारे शरीर में वात, पित्त और कफ क्रमशः गतिकर्म, पाचनकर्म, उपचयकर्म एक-दूसरे के पूरक और सहायक होकर शरीर की आवश्यक सभी क्रियाओं का संचालय सुचारू रूप से करते रहते हैं। उस समय तक हमें किसी प्रकार की शारीरिक असुविधा का अनुभव नहीं होता है। यह कार्य तभी तक ठीक प्रकार से चलता रहता है, जब तक तीनों दोषों की समता बनी रहती है। अर्थात् दोषों की समता को आरोग्यता कहते हैं।

इस बात को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए हम अपनी पाचन-प्रणाली पर विचार करें कि जो हम प्रतिदिन विविध रसयुक्त भोजन करते हैं। वह

सर्वप्रथम मुख में पहुँचता है, जहाँ पर मुख की ग्रन्थियों का स्राव मिलकर श्लेष्मा द्वारा मधुर पाक होता है, वहाँ से वात इसे गति देकर अन्नजलिका में से होता हुआ आमाशय में पहुँचाता है। यहाँ इसका आमाशय रसों द्वारा अर्थात् क्लेदक श्लेष्मा द्वारा क्लेदन होता है। तदनन्तर पाचक पित्त इस पर अपनी क्रियाएँ करके अम्लपाक और कटु पाक की अवस्था तक पहुँचाता है। इसके साथ-साथ पाचक पित्त और व्यानवायु के सहयोग से भोजन के सार भाग का उपशोषण प्रारम्भ होता है और मल भाग अपान वायु की प्रेरणा से शरीर से बाहर निकल जाता है। आहार रस से क्रमशः सभी धातुओं का पोषण होता तथा उसका भुताग्नियों द्वारा पाक होता है।

इस प्रकार संक्षेप में हम देखते हैं कि समान अवस्था में रहते हुए वात, पित्त, कफ द्वारा शरीर की पाचकाग्नि, भूताग्नि और धात्वग्नियों की सभी क्रियाएँ ठीक प्रकार से सम्पन्न होती रहती हैं, जिससे मल व धातु नियत अनुपात में बनते व विघटित होते रहते हैं। परन्तु जब में अपने-अपने परिमाण से न्यून या अधिक हो जाते हैं तो रोग उत्पन्न कर शरीर का नाश करते हैं।[72]

यह साम्य अवस्था हमारे शरीर में सामान्यतः जिस क्षण तक बनी रहती है, तभी हमारा शरीर या जीवन एक के बाद दूसरे क्षण में वृद्धि की ओर पदार्पण करता हुआ दीर्घायुष्य की ओर अग्रसर होता रहता है।

दोषों एवं अग्नियों की इस स्वाभाविक स्थिति का अनुकूल परिणाम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन पर भी पड़ता है, जिससे ये सभी अपने-अपने अर्थों को ग्रहण करते की प्रवृत्ति को बनाये रखती हैं। इसी को 'दोषसाम्यमरोगता' कहते हैं।

दोषों को दोष-धातु मल संज्ञा

आयुर्वेद चिकित्सा के आधारभूत स्तम्भ वात, पित्त, कफ हैं। इनकी संज्ञा दोष के साथ धातु और मल भी हैं। वात, पित्त, कफ शरीर को दूषित करने के कारण दोष कहलाते हैं और ये अपने गुणों द्वारा शरीर को धारण करते हैं अतः धातु कहलाते हैं तथा वृद्धरूप में शरीर को मलिन करते हैं अतः इनकी मल भी संज्ञा है।[73] परन्तु इनमें से दोष संज्ञा ही प्रमुख हैं शेष गौण हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि वात, पित्त और कफ की ही दोष, धातु, मल तीनों ही सज्ञाएँ हैं परन्तु धातु को दोष नहीं कह सकते। इस प्रकार वात, पित्त, कफ तीनों की दोष, धातु मल संज्ञा इनकी विकृत और प्राकृत स्थिति को भी स्पष्ट करते हैं।

दोष संज्ञा : दोषों के, दोष धातु और मल नामों में से इनका 'दोष' नाम ही अधिक प्रचलित है क्योंकि ये तीनों ही शरीर में इतने महत्वपूर्ण होने पर भी

अस्थिर प्रकृति के हैं और किसी अल्प कारण से भी इनकी वृद्धि या न्यूनता होने लगती है। इसी कारण से ये धातुरूप को छोड़कर 'दोष' रूप में शीघ्र ही आ जाते हैं। इसके साथ-ही-साथ तीनों दोषों की स्थिति सार्वदैहिक है और प्रत्येक आशयों, स्रोतसों, धातुओं और मलों तक व्याप्त होते हैं अतः इनको भी शीघ्र ही विकार-ग्रस्त कर देते हैं। इस दूषित करने वाली प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें 'दोष' कहना उपयुक्त पड़ता है।[74] यदि हम संसार में सभी मनुष्यों की ठीक-ठीक परीक्षा करें तो पाएँगे कि प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक या मानसिक दृष्टि से रोगग्रस्त ही मिलेगा पूर्णरूपेण स्वस्थ व्यक्ति संख्या में बहुत ही कम मिलेंगे। दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार कहें कि लोगों के शरीर में वात, पित्त, कफ इन तीनों में से किसी-न-किसी की न्यूनता या अधिकता ही मिलेगी। यह न्यूनाधिक्य भी विकार का कारण बनता है, जो प्रकारान्तर से दोष ही है। इस प्रकार संसार में प्रत्यक्ष रूप में भी इनका 'दोषरूप' ही प्रायः देखने में मिलता है, इस कारण भी इनका नाम 'दोष' ही अधिक उपयुक्त है।

धातु संज्ञा : धातु शब्द का मुख्य प्रयोग रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र के लिए होता है क्योंकि वे दोषों और मलों की अपेक्षा शरीर का धारण या निर्माण, विशेष रूप से करते हैं तथापि यत्किंचित् धारक होने से दोषों और मलों को भी 'धातु' कहा जाता है।[75] परन्तु इनकी यह संज्ञा गौण ही है।

वात, पित्त और कफ शरीर के घटक होने के साथ-साथ इन्हें शरीर का मूल द्रव्य या जीवनाधार पाया गया इसीलिए कहा गया है कि इन तीनों को शरीररूपी भवन के ऐसे तीन आधारस्तम्भ समझना चाहिए, जो इसके ऊपर-नीचे और बीच के भाग में प्रतिष्ठित है तथा देह को स्थिर रखते हैं। इसी से इन्हें 'आधारस्तम्भ', 'देहधारक', 'धातु', 'त्रिधातु', त्रिसूत्रा' नाम दिया गया है।[76]

मल संज्ञा : वात, पित्त, कफ जब विकृत एव विषम होकर शरीर में स्थित रस, रक्त, मांसभेद मज्जा आदि धातुओं, स्नायु, कण्डरा, आशय, अवयव, स्वेद, मूत्र, मल आदि सभी धातु, उपधातु और मलों को भी मलिन कर देते हैं। उस प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें 'मल' सज्ञा दी गई है। इनके 'मल' नाम रखने का एक कारण यह भी है कि ये तीनों दोष स्थूल रूप में हमारे दैनिक आहार के पाचन के समय में उत्पन्न होने वाले मलों के रूप में नित्यप्रति बनते रहते हैं।

वाग्भट्ट ने अष्टांगसंग्रह में मल के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा है कि दोषों और धातुओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में मलरूप अर्थात् अपने-अपने छिद्रों से बाहर फेंके जाने योग्य होने से पुरीषादि को ही मुख्य रूप से 'मल' नाम दिया गया है। इन्हें मल इसलिए भी कहते हैं कि ये शरीर में वृद्धि को प्राप्त हों तो उसे विशेषरूप से मलिन करते हैं।[77]

उस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि दोषों के प्रसाद और मल दो रूप दृष्टि-

गोचर होते हैं। जब वात, पित्त, कफ शुद्ध रूप में शरीरस्थ रहेंगे तब इन्हें 'धातु' कहेंगे और जब अशुद्ध हो जाएँगे तब इन्हें 'मल' कहेंगे। इनका 'दोष' नाम अधिक प्रचलित नाम है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शरीर क्रिया विज्ञान में 'दोष', 'धातु' और 'मल' ये तीनों प्रकार के शारीरिक द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। ये इस प्रकार हैं :

शरीर द्रव्यों को उनके गुण धर्मानुसार तीन वर्गों में बाँटा गया है। 1. दोष, 2. धातु, 3. मल।

1. **दोष**[80] : (क) शारीरिक दोष, (ख) मानसिक दोष।

(क) **शारीरिक दोष :** वात, पित्त, कफ।

(ख) **मानसिक दोष :** रज और तम।

'सत्व' को दोष नहीं माना जाता है क्योंकि सत्व प्रकाशस्वरूप या ज्ञानस्वरूप है।[81]

यह निर्विकार होने से विकार या दोषरूप ग्रहण नहीं करता।

धातु : आयुर्वेद में शार्ङ्गधर ने धातुओं की संख्या सात बतलाई है।[82] वे निम्न प्रकार हैं :

1. रस, 2. रक्त, 3. मांस, 4. मेद, 5. मज्जा, 6. अस्थि, 7. शुक्र।

मल : शार्ङ्गधर ने उपरोक्त सात धातुओं के मल क्रमशः निम्न प्रकार बतलाए हैं :[83]

1. **रस धातु का मल :** जिह्वा, नेहा और मुख से निकलने वाला जलरूप मल।

2. **रक्त का मल :** रञ्जक पित्त।

3. **मांस धातु का मल :** कान (कर्ण) का मैल।

4. **मेद धातु का मल :** जीभ, दाँत, काँख और लिङ्ग का मैल।

5. **अस्थि धातु का मल :** नख, बाल, रोम।

6. **मज्जा धातु का मल :** आँखों का मैल।

7. **शुक्र धातु का मल :** मुख की चिकनाई, मुख के मुँहासे तथा दाढ़ी मूँछ।

वात, पित्त, श्लेष्मा द्रव्यरूप हैं या शक्तिरूप

शरीरधारक वात, पित्त, श्लेष्मा 'द्रव्यरूप' हैं या 'शक्ति कर रूप' हैं इस विषय में विभिन्न मत पाए जाते हैं। आयुर्वेद के कुछ विद्वानों ने त्रिदोष पर विचार करते हुए कहा है कि यह शरीरधारक के रूप में सूक्ष्म, अदृश्य हैं, जिन्हें हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते हैं केवल शरीर पर उनकी क्रियाएँ होने के कारण लक्षणरूप में दिखाई पड़ती हैं अतः शक्तिरूप हैं। विशेषरूप से वात, दोष को सूक्ष्म,

अप्रत्यक्ष होने के कारण शक्तिरूप ही कहा है।[84]

यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि यह कल्पना कहाँ से उत्पन्न हुई और क्यों हुई ? इसके लिए हमें आयुर्वेद के विगत काल के विषय में विचार करना पड़ेगा। वैदिक काल से लेकर लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी तक अपने देश में केवल आयुर्वेद का ही चिकित्सा क्षेत्र में प्रचलन था, इसके समक्ष अन्य कोई चिकित्सा पद्धति नहीं थी। अतः आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त वात, पित्त और कफ के आधार पर जो चिकित्सा-सूत्र चरक सुश्रुत आदि महर्षियों ने बनाए उनका कोई विरोध नहीं हुआ। इसके उपरान्त तेरहवीं शताब्दी से मध्यकाल अर्थात् मुगलकाल प्रारम्भ होता है। शार्ङ्गधर संहिता भी उसी काल की रचना है, अतः इसमें नाड़ी विज्ञान पर विशेष चर्चा की गई है[85] इतना विशद वर्णन चरक सुश्रुत आदि पूर्वकालीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। इस काल में यूनानी चिकित्सक देश में आए और उन्होंने शासन की सहायता से देश में यूनानी चिकित्सा पद्धति का प्रचलन किया परन्तु यूनानी चिकित्सा के सिद्धान्त भी वात, पित्त और कफ या त्रिदोष पर ही आधारित थे। क्योंकि यूनानी वैद्यक में महाभूत, प्रकृतियाँ, दोष, प्राण, ओज आदि का वर्णन स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है।[86] अतः इनमें भी आपस में कोई विशेष मतभेद नहीं उपस्थित हुआ।

मध्यकाल के उपरान्त अठारहवीं शताब्दी में देश पर अंग्रेजों का राज्य हुआ और वे अपने साथ अपनी आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा को भी लाये और राज्याश्रय पाकर जिसका विस्तार हुआ तथा आज भी राज्याश्रय के द्वारा फलफूल रही है। इनका सिद्धान्त जीवाणुवाद एवं भौतिक रसायन तथा प्राणिविज्ञान व प्रत्यक्ष पर आधारित है। अतः प्रत्येक वस्तु को प्रयोगशाला के अन्तर्गत अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा प्रत्यक्षीकरण पर विश्वास करते हैं। जहाँ पर आयुर्वेदज्ञ शरीर के अनेक भावों को मानते हुए दोषानुषार चिकित्सा करते हैं वहीं पाश्चात्य चिकित्सक केवल स्थूल शरीर और जीवाणुवाद तथा प्रत्यक्ष को आधार मानकर चिकित्सा करते हैं यहीं से दोनों में मौलिक अन्तर प्रारम्भ हाता है।

प्राचीन आयुर्वेदज्ञों शार्ङ्गधर आदि ने मुख्य रूप से वायु का स्थान पक्वाशय या मलाशय,[87] पित्त का स्थान पच्यमानाशय या अग्न्याशय[88] अथवा ग्रहणी आदि तथा कफ का स्थान आमाशय, उरस आदि स्वीकार किया है।[89] परन्तु इन स्थानों पर वात, पित्त और कफ का प्रत्यक्ष करने में आधुनिक वैज्ञानिक विभिन्न यन्त्रों से सम्पन्न होने के बाद भी सफल नहीं हो सके अतः उन्होंने कह दिया कि आयुर्वेदज्ञों ने त्रिदोष का प्रत्यक्षीकरण तो किया नहीं यह उनकी केवल कल्पना मात्र है। अतः यह पद्धति अवैज्ञानिक है। इस प्रकार के, आधुनिक वैज्ञानिकों के इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए ही कतिपय आयुर्वेद के विद्वानों ने दोषों को द्रव्यरूप न मानकर शक्तिरूप मान लिया है। शक्तिरूप मानते हुए उनका कहना है कि जिस प्रकार

विद्युत, चुम्बकत्व, ताप आदि शक्ति हैं और उनका प्रत्यक्ष नहीं होता तथा हम उन्हें केवल उनकी क्रियाओं द्वारा ही जान पाते हैं। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ भी शक्ति हैं तथा उनकी क्रियाओं के आधार पर ही उनकी उपस्थिति समझी जाती है।

इस प्रकार त्रिदोष 'द्रव्य' हैं या 'शक्तिरूप' यह विवाद तब से उत्पन्न हुआ जब से हमारे देश में एलोपैथी आधुनिक चिकित्सा का आगमन हुआ और उनके प्रयोगशालीय पैमाने पर त्रिदोष को भी तौलने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

त्रिदोष 'द्रव्य रूप' है या 'शक्तिरूप' इसको स्पष्ट करने से पूर्व हमें 'द्रव्य' किसे कहते हैं तथा 'शक्ति' किसे कहते है इसको समझ लेना चाहिए।

द्रव्य : द्रव्य की परिभाषा करते हुए चरक ने कहा है कि जिसमें चलनात्मक कर्म और रूप आदि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से आश्रित हों और जो गुण, कर्म तथा कार्य द्रव्य के प्रति समवायिकारण (उपादान कारण) हो उसे द्रव्य कहते हैं।[90]

शक्ति : शक्ति की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री रणजीतराय देसाई जी ने शक्ति को पारिभाषिक शब्द बताते हुए कहा है कि—'शक्ति' का अर्थ है द्रव्य का 'कार्य' करने का सामर्थ्य। यह कार्य भी वैज्ञानिक संज्ञा है। कोई पदार्थ अपने बल प्रयोग द्वारा किसी अन्य पदार्थ को गतिमान (स्थानान्तरित) कर दे तो कहा जाता है वह पदार्थ 'कार्य' कर रहा है। द्रव्य में विद्यमान कार्य करने के इस सामर्थ्य को, जो वर्तमान में प्रत्यक्ष हो अथवा संचित हो शक्ति कहते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया है कि जैसे अपने सामने पड़ी पुस्तक को मैं हाथ से धकेल दूँ या इसे पलंग पर से उठाकर टेबल पर रख दूँ तो विज्ञान की संज्ञा में कहा जाएगा कि मैंने 'कार्य' किया।[91]

नैयायिकों ने कारणनिष्ठ कार्योत्पादनयोग्य धर्म को शक्ति कहा है[92] तथा वैयाकरण पद-पदार्थ सम्बन्धी वृत्ति विशेष को शक्ति मानते हैं।[93]

वात, पित्त और कफ द्रव्यरूप ही हैं शक्ति रूप नहीं इस सम्बन्ध में निम्न प्रमाण दिए जा सकते हैं यथा :

1. द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिसमें चलनात्मक कर्म अथवा स्निग्ध, उष्ण आदि गुण 'नित्य सम्बन्ध' से रहें तथा जो अपने कार्यद्रव्य के प्रति समवायिकारण (उपादान) हो। इस परिभाषानुसार हम त्रिदोष पर दृष्टिपात करें तो वात, पित्त, कफ द्रव्य ही हैं ऐसा स्पष्ट होता है।

हमारे शरीर के अन्दर रौक्ष्य, लाघव, शैत्य, खरता, सूक्ष्मत्व तथा चलत्वादि भाव रुक्षता, लघुत, शीतल, खरता और चलन गुण वाले वात द्रव्य के गुण या कर्म हैं।[94]

इसी प्रकार शरीर का औष्ण्य, सत्व, द्रवत्वादि भाव उष्णता, सत्व, द्रवत्व पित्त के गुण हैं।[95]

शैत्य, मार्दव, तमोगुण, स्निग्धत्व और पिच्छिन्नत्व भाव शीतल, स्निग्ध, पिच्छिल, तमोगुण वाले कफ द्रव्य के गुण हैं।[96]

सभी धातु मल आदि का विभाग करना, उच्छ्वास, निःश्वास, गतिमान भावों को बाहर निकालना, मन का नियन्त्रण व प्रेरण आदि कर्म वातद्रव्य के।[97] त्वचा की कान्ति, दर्शन, शरीरगत विविध पाक, ऊष्मा, क्षुधा, तृष्णा आदि कर्म पित्त द्रव्य के[98] तथा स्थिरता, पुष्टि तथा दृढ़ता आदि कर्म कफ द्रव्य के हैं।[99]

उपरोक्त गुण कर्म प्राकृत वात, पित्त, कफ के हैं, जिनका वर्णन अन्य शास्त्रों एव शार्ङ्गधर संहिता में स्पष्ट रूप से मिलता है। इसका प्रमाण एक यह भी है कि जब हम उन गुणों से युक्त द्रव्यों का सेवन करते हैं तो स्पष्ट रूप से अपने-अपने गुण कर्मों के अनुसार में वात, पित्त, कफ आदि दोष घटते ओर बढ़ते रहते हैं। इसके साथ-ही-साथ वातादि दोषों के कर्मों में भी वातादि की वृद्धि से उन कर्मों की वृद्धि तया उनके क्षय से उनका क्षय होता है। इस वृद्धि व क्षय को चरक ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि सभी अवस्थाओं में सामान्य (जाति) अपने सामान्य भावों का (अपनी जाति का) बढ़ाने वाला होता है और विशेष उसका (अपने विजातीय का) क्षय या ह्रास का कारण होता है।[100] इस वृद्धि व क्षय का क्रम इस प्रकार होता है कि द्रव्य सामान्य से द्रव्य की वृद्धि, गुण सामान्य से द्रव्यगत गुण की वृद्धि तथा कर्म सामान्य से द्रव्यगत कर्म की वृद्धि होती है और उनके विशेष से उनका क्रमशः क्षय होता है।

मुख द्वारा हम जो भोजन ग्रहण करते हैं, वह पाक क्रिया द्वारा परिवर्तित होकर शरीर के योग्य बनाया जाता है। यह क्रिया पित्त द्वारा सम्पन्न होती है। क्योंकि पित्त को आग्नेय भी कहा है।[101] अतः पाक क्रियाओं का उपादान कारण शरीर का मूल्य घटक रूप आग्नेय पित्त 'द्रव्य' हुआ। यह शरीर में जो पाक क्रिया होती है, उसको सुचारू रूप से चलाने के लिए नियामक के रूप में जल की आवश्यकता होती है अतः पित्त का नियामक कफ हुआ। जिस प्रकार पित्त शरीर में पाकादि क्रियाओं द्वारा शरीर की धातुओं को पुष्ट करता है। उसी प्रकार कफ अपने सौम्य गुण के कारण शरीर के रचनात्मक कार्यों को करता हुआ पित्त का नियमन करता है।[102]

शार्ङ्गधर ने पित्त और कफ दोष को पङ्गु कहा है, इनमें स्वयं में क्रिया का अभाव होने से ये गतिहीन हैं। इस अवस्था में उनको गति प्रदान करने में वायु सहायता करता है, जिस प्रकार बादल स्वयं गतिवान् न होते हुए भी वायु उनको गति प्रदान करती है, जिससे यत्र-तत्र जाकर वर्षा करते हैं। इसी प्रकार कफ और पित्त को गति प्रदान कर शरीर के विभिन्न कोषों एवं सूक्ष्म अवयवों तक पहुँचाने का कार्य वायु ही करता है।[103]

इस प्रकार शरीर में रचनात्मक कार्यों का कारण कफ और पाक या अग्नि-

कर्म का कारण पित्त एवं गति व चेष्टाओं का कारण वात धातु है। वात, पित्त और कफ में अपने-अपने गुण एवं कर्म नित्य सम्बन्ध से रहते हैं और यह तीनों ही अपने कार्य द्रव्य अर्थात् 'शरीर' के निर्माण में समवायिकरण या उपादान कारण हैं अतः द्रव्य की परिभाषानुसार वात, पित्त, कफ द्रव्य हैं शक्ति नहीं।

(1) इसके विपरीत यदि हम वात, पित्त, कफ को शक्ति मान भी लें तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शक्ति हमेशा द्रव्याश्रित रहती है। शक्ति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः ये वात, पित्त और कफ किसकी शक्ति हैं। 'शक्ति' एक प्रकार का गुण है। गुण सदा किसी द्रव्य में रहा करता है अतः यदि शक्तिरूप वात, पित्त, कफ 'गुण' हों तो उनका आश्रयभूत कोई अन्य द्रव्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शक्ति अप्रत्यक्ष तथा अदृश्य होती है परन्तु वात, पित्त, कफ को हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। दोषों के प्रत्यक्षीकरण के आधार पर ही उनके रूप रंग तथा गुण कर्मों का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। अतः वात, पित्त, कफ शक्ति नहीं हैं।

(2) वात, पित्त और कफ के क्रमशः गुण रुक्षता, उष्णता और स्निग्धता आदि माने गये हैं क्योंकि गुण सदा द्रव्य में ही रहते हैं शक्ति या गुण में गुण का होना असम्भव है। अतः यदि वात, पित्त और कफ को शक्तिरूप मानते हैं तो उपर्युक्त गुण जो कहे गये हैं वे नहीं हो सकते हैं।

(3) 'शक्ति' किसी द्रव्य का आश्रय लेकर ही रहती है यदि शक्तिरूप वातादि का आश्रय किसी अन्य द्रव्य को मानने के बाद क्रिया का कर्तृत्व भी उसी द्रव्य में मानना पड़ेगा। जैसे कि अभी तो हम पित्त पकाता है (पित्तं पचति) या वायु सुखाती है (वायुः शोषयति), कफ गुरुता उत्पन्न करता है, प्रयोग करते हैं पर इसके स्थान पर ऐसा कभी भी नहीं प्रयोग होता है कि दाहिका शक्ति दग्ध करती है या पाक शक्ति पचाती है।[104]

इस प्रकार यदि वातादि शक्ति होती तो उस द्रव्य का अवश्य उल्लेख होता जिसकी कि ये तीनों शक्ति हैं पर उस द्रव्य का उल्लेख न होकर वातादि का ही उल्लेख है अतः ये तीनों द्रव्य हैं।

(4) कुछ लोग दोषों को 'शक्तिप्रधान' होने के कारण शक्ति स्वरूप कहते हैं। परन्तु द्रव्य को शक्ति कह देने से वह शक्ति नहीं बन जाता है। यदि हम शक्ति-प्रधानता को ही शक्ति मानने लगेंगे तो हमारे शरीर में स्थित रक्त कण या भुकाषु जो कि नेत्रों द्वारा साक्षात् नहीं होता (अतिसूक्ष्म केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखा जा सकता है। उनको भी शक्ति सम्पन्न होने के कारण शक्तिरूप ना होगा।[105]

परन्तु ये स्पष्ट रूप में द्रव्य ही माने जाते हैं। स्वयं विद्युत भी द्रव्य ही है क्योंकि यह अग्नि का भेदरूप है। अतः शक्तिप्रधान होने पर भी द्रव्य रूप वस्तु को शक्ति नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरण स्वरूप यदि घृत आयु को बढ़ाने वालों में श्रेष्ठ है, इस बात के आधार पर यह कह दें कि घृत आयु है तो घृत और आयु

वास्तव में अभिन्न नहीं हो जाते।[106] वात, पित्त, कफ के शक्तियुक्त होने पर भी इन्हें शक्तिरूप मानना उचित नहीं।

(5) **दोषों का पाञ्च भोतिकत्व :** चरक ने सभी द्रव्यों को पाञ्चभौतिक कहा है।[107] वात, पित्त, कफ की उत्पत्ति भी पञ्च महाभूतों से हुई है। वाग्भट्ट ने इनकी उत्पत्ति का क्रम बताते हुए कहा है कि वायु आकाश महाभूत से वायु, अग्नि महाभूत से पित्त, जल और पृथ्वी महाभूत से श्लेष्मा की उत्पत्ति हुई है।[108] अत: वात, पित्त और कफ पाञ्चभौतिक हैं। पञ्चमहाभूत द्रव्य हैं।[109] तो पाञ्चभौतिक वात, पित्त कफ भी द्रव्य हुए।

6. **अवकाश पूरकत्व :** भौतिक द्रव्य की एक विशेषता यह भी है कि वह किसी-न-किसी स्थान को घेरता है। वात-पित्त-कफ के शरीर में वस्ति, अग्न्याशय, आमाशय आदि क्रमश: विशिष्ट स्थान कहे गये हैं। इन विशिष्ट आशयों या स्थानों पर ये स्थान घेरकर उपस्थित रहते हैं। इसीलिए चरक ने भोजन करते समय कुक्षि के भीतर, ठोस आहार और जल द्रव्य के साथ-साथ वात, पित्त और कफ के लिए भी रिक्त अवकाश रखने का निर्देश किया है।[110]

चरक आदि ग्रन्थों में पित्त और कफ का अंजलि प्रमाण दिया है जैसे—मानव शरीर में 6 अंजलि कफ और 5 अंजलि पित्त रहता है।[111] वायु का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया है परन्तु यह कहा है कि यह अतिप्रबल तत्व है और कुपितावस्था में शरीर के रिक्त स्रोतसों में भर जाया करती है।[112] इस प्रकार वातादि का प्रमाण देखने को मिलता है परन्तु शक्ति का कोई अंजलि प्रमाण नहीं हो सकता। अत: उक्त उद्धरणों से वात, पित्त और कफ का अवकाश पूरकत्व सिद्ध हो जाता है जो कि इसके द्रव्य होने का प्रमाण है। शक्ति का नहीं।

7. **दोषों का संख्यावत्व :** द्रव्य की एक विशेषता संख्यावान् होना भी है अर्थात् एक, दो, तीन आदि का व्यवहार किया जा सके उसे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार वात-पित्त-कफ दोषों की संख्या चरक शार्ङ्गधर आदि ने स्पष्ट रूप से वर्णित की है।[113] संख्या किसी द्रव्य की ही होती है अत: त्रिदोष कहने से वात-पित्त-कफ द्रव्य हैं।

8. **दोषों का अवयवत्व :** अवयवयुक्त होना भी द्रव्य की एक विशेषता है। वात-पित्त-कफ देह के मूलभूत उपादान हैं अत: ये शरीर के सूक्ष्म अवयव हैं। वात-पित्त-श्लेष्मा के बढ़े हुए कुछ भाग या अंश को शरीर से निकालने के लिए या इनके क्षीण भाग की पूर्ति के लिए उपाय किये जाते हैं अत: त्रिदोष की अवयवयुक्त हैं।

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने शरीर की अंग-प्रत्यंगों की गणना में वात-पित्त की पृथक् से गणना की है।[114] सुश्रुत के टीकाकार उल्हण ने भी उन्हें 'अंगावयव' कहा है। चरक ने भी धातुओं और मलों के साथ-साथ दोषों का भी शरीरावयव में परिगणन किया है। अष्टाङ्ग-संग्रह की टीका इन्दु में कहा है कि इन दोषों आदि को

देह से पृथक् कर दें तो देह की सत्ता नहीं रहती है।[115] अष्टाङ्ग संग्रहकार ने भी कहा है कि शरीर दोष-धातु-मल का मूल है।[116] अतः शरीर और वात, पित्त, श्लेष्मा का अवयव-अवयवी का सम्बन्ध है। इन तीनों दोषों में 'वात' जो कि दृश्य-हीन है, इसे भी काश्यपसंहिता में परमाणुयुक्त या अवयव सहित कहा गया है।[117]

9. भारपरिमाणत्व या गुरुत्व : द्रव्य का एक लक्षण भारवान् होना या गुरुता-युक्त होना भी है। इनके गुणों के वर्णन में स्पष्ट रूप से इन्हें गुरु और लघु का विशेषण दिया गया है। गुरु या लघु भौतिक गुण हैं, ये भौतिक द्रव्यों में रहा करते हैं। गुरुता और लघुता दोषों के भार को ही स्पष्ट करते हैं। यह लघुता या गुरुता सापेक्ष्य है अर्थात् कोई वस्तु किसी दूसरे की अपेक्षा से लघु या गुरु कहलाती है। जिसे हम गुरु कहते हैं, वह अपने से अधिक गुरु की अपेक्षा लघु भी हो सकता है। किसी धातु का गुरुत्व तथा लघुत्व की अवयवों की घनता और विरलता के कारण ही होती है। अतः वात, पित्त और कफ में वात विरल होने के कारण लघु है और पृथ्वी-जलतत्व प्रधान 'कफ' के अवयवों में सघनता होने के कारण यह गुरु कहा गया है। पित्त द्रवरूप है यह श्लेष्मा की उपेक्षा कम भारवान् होने के कारण लघु है। किन्तु वात की अपेक्षा कुछ गुरु होने के कारण इसे अल्प लघु भी कहा है।[118] अतः वात, पित्त और कफ तीनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा लघु या गुरु होने से भारवान् हैं अतः द्रव्य हैं। शक्ति में इस प्रकार की कोई गुरुता या लघुता नहीं पायी जाती।

10. मूर्तत्व : द्रव्य का एक विशेष चिह्न मूर्त या आकृतिमान् होता भी है। पृथ्वी महाभूत की विशेषता यह है कि वह गुरुता, स्थिरता और मूर्तता को जन्म देता है।[119] चरक ने भी कहा है कि उस पुरुष के स्वरूप का कारण पृथ्वी महाभूत है।[120] श्लेष्मा में पृथ्वी और जल महाभूत द्रव्य हैं। अतः उत्पन्न कफ का 'मूर्त' होना सहज और स्वाभाविक है।

वायु का स्वरूप रौक्ष्य, शैत्य, लाघव आदि,[121] पित्त का स्वरूप औष्ण्य, तैक्ष्ण्य[122] तथा कफ का स्वरूप श्वैत्य, शैत्य, गौरव आदि[123] कहा गया है। श्लेष्मा को गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल कहा है, इन गुणों से युक्त द्रव्य स्वभावतः 'मूर्त ही होगा।' इन गुणों के आधार पर ही चरक ने श्लेष्मा का स्वरूप निर्धारित किया है। पित्त आग्नेय है अग्नि महाभूत में स्पर्श और रूप-गुण होते हैं। इनमें 'रूप' इसका अपना मुख्य गुण है अतः पित्त में रूप का होना भी स्वाभाविक है। पित्त में रूप के साथ-साथ द्रवता, विसुगन्ध, कुछ स्निग्धता के गुण पाये जाते हैं। अतः यह भी एक रूपवान द्रव्य है वात को अवश्य ही अमूर्त कहा गया है। यह नेत्रों के द्वारा अग्राह्य है परन्तु इसमें खरता, रुक्षता आदि गुण विद्यमान हैं। इन गुणों का ज्ञान हमें स्पर्शेन्द्रिय त्वचा द्वारा हो जाता है। अतः वात नेहागम्य न होने पर भी स्पार्शानुभवगम्य है। इसके अतिरिक्त इसके कार्यों को तो देखा जाता है। अतः

इसके लिए सुश्रुत ने कहा है कि यह अव्यक्त होते हुए भी अपने कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।[124] अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा वात के गुणों व कर्मों का भी बोध होता है। इसी आधार पर चरक ने इसके स्वरूप का भी निर्धारण किया है। इस प्रकार वात, पित्त और कफ में द्रव्य की एक विशेषता मूर्तत्व होने से ये तीनों द्रव्य ही हैं।

11. **इन्द्रिय ग्राह्यत्व :** इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होना भी भौतिक द्रव्य का एक लक्षण है। ये वातादि दोष या धातु इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं, यह उपरोक्त प्रसंगों द्वारा स्पष्ट ही है। ये अपनी स्थूलावस्था में इन्द्रियग्राह्य होते हैं तथा सूक्ष्मावस्था में भी इनके कार्यों द्वारा इनकी अभिव्यंजना होती है। चक्रपाणि ने कहा है कि वातादि का स्वरूप उनके कार्यों द्वारा जाना जाता है।[125] अत: वात, पित्त और कफ में तीनों किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं अत: ये द्रव्य हैं।

12. **पंचकर्म चिकित्सा द्वारा दोषों का निर्हरण :** चरकादि ग्रन्थों में रोगों के चिकित्सासूत्र में वात दोष को वस्ति आदि कर्म के द्वारा, पित्त दोष को विरेच-नादि द्वारा तथा कफ दोष को वमनादि के द्वारा शरीर में निकाल देने का निर्देश दिया है। शार्ङ्गधर ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कंघन तथा पाचन से जीते हुए दोष कदाचित पुन: कुपित हो जायें परन्तु वमन विरेचन आदि पंचकर्म द्वारा शरीर से दोषों का निर्हरण कर देने के बाद पुन: नहीं कुपित होते।[126] अत: पंचकर्म द्वारा बढ़े हुए दोषों का निर्हरण अच्छी प्रकार हो जाता है।

यदि दोषों को शक्तिरूप मानें तो उसके आधार को न निकालकर उनको निकालना असम्भव हो जाता अत: दोष द्रव्य ही है।

13. **उभय मत :** आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि द्रव्य भी सूक्ष्मावस्था में शक्ति-गुण और द्रव्य इन तीनों में कोई भेद नहीं देखा जाता है। वैज्ञानिक लोग रूप-प्रधान तेज को द्रव्य न मानकर शक्ति ही मानते हैं। वैसे देखा भी जाता है कि सूक्ष्म तत्वों की विवेचना करते समय यह निश्चित कर पाना कठिन हो जाता है कि यह तत्व द्रव्यात्मक है, गुणात्मक है या शक्तिरूप है। आधुनिक युग में वैज्ञानिकों द्वारा अणु को भी इलेक्ट्रोन और प्रोटोन आदि में विश्लेपित कर लेने के उपरान्त यह कह पाना कठिन है कि इलेक्ट्रोन व प्रोटोन द्रव्यरूप हैं या शक्तिरूप।

चरक की टीका में चक्रपाणि ने भी सांख्य सम्प्रदाय का मत प्रस्तुत करते हुए उपरोक्त मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि गुणों की द्रव्य से पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् गुण और गुणी में कोई अन्तर नहीं है।[127] प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने तो 'द्रव्य' को शक्तिरूप में बदलना सम्भव है ऐसा अपना मत प्रकट किया है।

द्रव्य को शक्ति का रूप और शक्ति को द्रव्य का रूप दिया जा सकता है या द्रव्य प्रारम्भिक रूप में शक्तिमय होता है तथा इसके मूल अणुओं को शक्ति का रूप दिया जा सकता है ऐसा वर्तमान युग के अन्य वैज्ञानिक भी मानते हैं।

इसी बात को पुष्ट करते हुए वैद्य निरंजनदेव का कथन है कि त्रिदोष द्रव्य श्रेणी में होते हुए सजीव देह में गतिरूप उष्मारूप और ओजोरूप में रहने वाले ये अब शक्तिमय ही हैं। देहधारण के समय प्रबल शक्तिमय अणुरूप, दूषणकर्म के समय सूक्ष्म स्रोतोगामी एवं मध्यपरिमाण विशिष्ट तथा मूलभूत होकर ये स्थूल द्रव्य का रूप ग्रहण करते हैं।[128]

14. वातादि का द्रव्यत्व प्रतिपादन करते हुए श्री उपेन्द्रनाथ ने स्पष्ट कहा है कि वातादि का द्रव्यत्व ही शास्त्रकारों ने वर्णन किया है। शक्ति की कल्पना मिथ्या है। यह मिथ्या कल्पना शास्त्र प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। द्रव्य होने से ही सबका सर्वदा प्रत्यक्ष नहीं होता है। वैद्यों को वैज्ञानिकों के भय से शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[129]

15. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् 1935 में त्रिदोष चर्चा परिषद् हुई थी उसने भी अपनी सम्मति देते हुए कहा कि शक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकती, उसको द्रव्य का आधार लेना पड़ता है। अतः वात, पित्त और कफ शक्ति नहीं हैं किन्तु स्थानानुसार वे किसी अवस्था में चक्षुइन्द्रिय को दिखाई पड़ते हैं तब उनकी स्थूलावस्था तथा किसी स्थान में इन्द्रिय को नहीं दिखाई पड़ते तब सूक्ष्मावस्था होती है। परन्तु वायु अदृश्य होने के कारण सूक्ष्म है किन्तु क्रियाओं से व्यक्त होती है।[130]

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वात, पित्त और कफ को द्रव्य ही स्वीकार किया गया है शक्तिरूप नहीं।

दोषों की विविध अवस्थाएँ

1. दोषों की प्राकृत व वैकृत अवस्था : हमारे शरीर में वात, पित्त, कफ की स्थिति दो रूपों में पाई जाती है। 1. प्राकृत, 2. वैकृत।[131]

1. प्राकृत अवस्था : इसमें से प्राकृत वात, पित्त, कफ वे हैं जो कि गर्भाधान संस्कार के समय माता-पिता के शुक्र-शोणित संयोग के साथ-साथ गर्भ शरीर में प्रविष्ट होते हैं। ये सूक्ष्म दोषों के सूक्ष्म बीजरूप होते हैं।[132]

गर्भ शरीर में इन प्राकृत वात, पित्त, कफ के बीजों का वृक्षरूप में बढ़ना माता के आहाररस से होता रहता है। इसीलिए इन प्राकृत वात, पित्त, श्लेष्मा का हमारे शरीर पर स्वभाव व प्रकृति निर्माण में गहरा प्रभाव पड़ता है। इन्हीं से शरीर के कोषाओं में उपचयात्मक क्रियाएँ होकर शरीर की वृद्धि एवं मस्तिष्क का विकास होता है। इन्हीं दोषों के द्वारा मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव का निर्माण होता है, जिसे हम प्रकृति कहते हैं। यह जीवनपर्यन्त अपरिवर्तनशील होती है।[133]

प्रकृति निर्माण में तीनों दोष सहायक होते हैं परन्तु जिस दोष की अधिकता

होती है उसी के अनुसार उसको वातप्रकृति, पित्तप्रकृति व कफप्रकृति आदि नामों से सम्बोधित करते हैं ।[134]

2. **वैकृत अवस्था :** वैकृत वात, पित्त, श्लेष्मा के सम्बन्ध में अष्टांग संग्रहकार ने कहा है कि वैकृत वात, पित्त, श्लेष्मा वे हैं जो गर्भाशय से बच्चे के निकलने के उपरान्त जो वह दैनिक आहार-विहार करता है, उससे जो मलरूप में वात, पित्त, कफ शरीर में उत्पन्न होकर बाहर निकलते रहते हैं ।[135] उदाहरणस्वरूप नित्यप्रति हम जो आहार लेते हैं, उसके अवस्थापक के समय आमाशय में फेनरूप श्लेष्मा की उत्पत्ति और जब पाचन की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, उस समय ग्रहणी में पित्त की उत्पत्ति और अन्त में अन्न पक्वाशय में पहुँचता है तब वहाँ पर वात की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रथम ये आहार के मल रूप में प्रादुर्भूत होते हैं परन्तु ये मल-रूप भी सर्वांश में शरीर से बाहर नहीं निकाल दिए जाते हैं। अपितु आहार रस के साथ मिलकर शरीर भीतरी अंगों तक पहुँचते हैं। वहाँ पर धात्वाग्नियों द्वारा इनका परिपाक होकर धातुओं के मलरूप में उत्पत्ति होती है। जैसे—रस धातु का मल रूप श्लेष्मा तथा रक्त धातु का मल रूप पित्त। वात की उत्पत्ति के विषय में जो हम प्राणद्रव्य के रूप में श्वास द्वारा बाह्य वायु (आक्सीजन सहित) द्वारा हमें प्राप्त होता है और विकृत रूप में वायु पक्वाशय में उत्पन्न होता है ।[136] यह वायु भी फुफ्फुसों के द्वारा रक्त में विलीन होकर कार्बनडाइआक्साइड के रूप में बाहर आ जाती है। अतः यह वायु आंशिक रूप से देह में विलीन होकर प्राकृत वात के साथ मिल जाती है ।

वायु के सम्बन्ध में शार्ङ्गधर ने कहा है कि नाभि में स्थित प्राणवायु हृदयकमल को छूती हुई अर्थात् प्रबुद्ध या अनुप्राणित करती हुई कण्ठ के रास्ते से बाहर आकर विष्णुपदामृत (ऑक्सीजन या प्राणवायु) को लेकर फिर अन्दर वेग के साथ चली जाती है और शरीर को जीव तथा जठराग्नि को पुष्ट करती है। यह अम्बरपीयूष रक्त के साथ मिलकर शरीर के सब धातुओं का पालन करता है ।[137]

ये जो आहार पाचन के द्वारा उत्पन्न वैकृत दोष, प्राकृत दोषों के समान होने से उनमें मिलकर शरीर में विलीन होते रहते हैं और शरीर का पोषण करते हैं। जब तक ये तीनों शरीर के लिए आवश्यक मात्रा में बनते रहते हैं तब तक इनकी सहायता से शरीर-पोषण का कार्य चलता रहता है परन्तु जब इनकी अधिकता या कमी हो जाती है तभी शरीर में रोग उत्पन्न होने लगते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम प्राकृत व वैकृत वात, पित्त, कफ का प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शवच्छेदन को ही शरीर के आभ्यान्तरिक अंगों की जानकारी का माध्यम माना गया है और आधुनिक वैज्ञानिक भी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण रूप मानते हैं परन्तु शवच्छेदन करने पर प्राकृत श्लेष्मा की प्राप्ति असम्भव है। हाँ, वैकृत वात, पित्त, श्लेष्मा की उप-

लब्धि थोड़ी बहुत हो जाती है, इसका कारण यह है कि इस चेतन शरीर में जब तक आहार-विहार का कार्यक्रम जारी रहता है तब तक वात, पित्त, श्लेष्मा की उत्पत्ति होती रहती है और अपने-अपने स्थानों पर रहकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। शरीर के निर्जीव होने पर स्रोतसो में धातु रूप दोष लुप्त हो जाते हैं। इसीलिए मृतशरीर में इनका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है।

2. दोषों की प्रसादावस्था व मलावस्था : शरीर की क्रियाओं में बाधा पहुँचाने तथा पोषण देने के कारण दोषों को दो रूपों में विभाजित किया गया है। 1. प्रसाद, 2. मल।

शरीर में नित्यप्रति दोष बनते रहते हैं और जन्म से प्राप्त प्राकृत दोषों के साथ मिलकर एक हो जाते हैं तथा रस रक्तादि धातुओं के साथ वायु के द्वारा इधर-उधर ले जाए जाते हैं।[138] जिससे शरीर की समस्त क्रियाएँ ठीक प्रकार से चलती रहती हैं। यह दोषों की प्रसादावस्था है।

अनेक कारणों से दोष संचित होकर जगह-जगह पर रुक जाते हैं और शरीर के स्वाभाविक कार्यों में बाधा उपस्थित करते हैं, तब दोषों की मलावस्था कहलाती है।[139]

जो भी शरीरगत पदार्थ शरीर को किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचाए उसे मल कहते हैं। इसके विपरीत मल शब्द से ग्रहीत जो भी पदार्थ अविकृत तथा सम प्रमाण में रहते हुए शरीर को पीड़ित नहीं करते अपितु अपने प्राकृत कर्मों से उसे पोषण देते हैं, उन सबका नाम 'प्रसाद' है। जैसे—नासिका, नेत्र, त्वचा आदि के छिद्रों से निकलने वाले विभिन्न मलद्रव्य जब आधिक्यवश बाहर निकलने लगते हैं तब उन्हें 'मल' कहते हैं। इसमें कारण यह है कि तब उनकी शरीर में स्थिति पीड़ाकर होती है। यही द्रव्य यदि समप्रमाण में रहते हुए अपने-अपने स्रोत तथा त्वचा की स्निग्धता को स्थिर रखते हैं तो इन्हीं की 'प्रसाद' संज्ञा होती है।[140] एक अन्य उदाहरण के रूप में मुख में स्थित बोधक कफ जब तक अपने प्राकृत कर्मों को सम्पादित करता रहता है तब तक इसकी 'प्रसाद' संज्ञा रहती है परन्तु जब वह श्लेष्मा वृद्ध होकर मुख मार्ग से बाहर निकलने लगता है, तब इसकी संज्ञा 'मल' हो जाती है। इसी प्रकार रस-रक्तादि धातुएँ और उपधातुएँ जब दूषित होकर पूयरूप को प्राप्त हों तो इन्हें भी मल कहा जाता है। यही रस रक्तादि धातुएँ तथा वात, पित्त और कफ जब समावस्था में हों तो प्रसादसंज्ञक होते हैं परन्तु जब ये विषम अर्थात् क्षय या वृद्धि को प्राप्त हो जाएँ, या अपने प्राकृत से भिन्न मार्ग (दिशा) में गति करें अथवा इनकी अन्य किसी प्रकार से विकृति हुई हो तो ये भी मल कहलाते हैं। जीर्ण न हुआ अन्नपान एवं रस रक्तादि धातु भी शरीर के उपतापक (पीड़ाकर) होने से मल समझे जाते हैं। पुरीष, मूत्र, वात आदि मल अदूषित रहकर शरीर का धारण करते हैं अतः उन्हें 'प्रसादरूप' कहा जाता है। त्वचा

इत्यादि उपधातु की अविकृत हों तो प्रसाद ही कहलाते हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष आदि गुण भी विकाररहित (क्षय या वृद्धि को न प्राप्त) दशा में प्रसाद कहे जाते हैं।[141]

श्री वैद्य रणजीतराय देसाई इस 'मल' और 'प्रसाद' रूप में दोषों के दो वर्गों को अनायुर्वेदीय कल्पना मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक दोष या दोष का भेद समावस्था में धातुरूप है और वही विषमास्थथा में (क्षय या वृद्धि) में रोगजनक होने से दोषरूप है और अत्यधिक होने से जब निसर्ग द्वारा उचित मार्ग से बाहर निकाला जाता है तो मलरूप होता है। इन्होंने शार्ङ्गधर संहिता के श्लोक 'शरीर-दूषणात्' तथा अष्टांगहृदय के नि० 1/12 में वर्णित 'सर्वेषामेव रोगाणां निदान-कुपिता मला:' का उद्धरण देते हुए सिद्ध किया है कि स्थान-स्थान पर दोषमात्र को मल, धातु या दोष कहा है कहीं उनकी दो या तीन श्रेणियाँ निर्दिष्ट नहीं की हैं।[142]

3. दोषों की आमावस्था व निरामावस्था (पक्वावस्था व अपक्वावस्था) : शार्ङ्गधर ने दोषों के विषय में उनकी पक्वावस्था और अपक्वावस्था पर भी विचार किया है। उनके अनुसार जब मनुष्य प्रतिदिन आहार लेता है तो आहार रस से प्राकृत और वैकृत वात, पित्त, श्लेष्मा की पुष्टि निरन्तर होती रहती है। इस समय आहार के गुण, आहार की मात्रा तथा अग्नि की मन्दता और तीक्ष्णता आदि के ऊपर निर्भर करता है कि दोष 'पक्व' रूप में बन रहे हैं या अपक्व रूप में।

यदि पाचकाग्नियों और धात्वाग्नियों द्वारा सम पाक किया जा रहा होता है तो रस-रक्तादि की पक्वरूप में बनते हैं और दोष भी पक्व ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु यदि आहार अनुकूल नहीं है और अग्नि भी विषम या मन्द हैं तो दोष अपक्व रूप में बनते हैं।[143] अपक्व अंश से युक्त दोषों की अवस्था को आम सहित 'समावस्था' और पक्व को आम रहित 'निरामावस्था' कहा गया है।

इनके अतिरिक्त एक स्थल पर महर्षि चरक ने दोषों की तीन अन्य अवस्थाएँ बतलायी हैं। 1. परिमाण से न्यून, 2. सम परिमाण, 3. परिमाण से अधिक।[144]

एक अन्य स्थल पर उन्होंने ही पुन: दोषों की क्षय, सम, वृद्धि और आवरण चार प्रकार भी अवस्थाएँ भी स्वीकार की हैं।[145]

दोषों की विविधावस्था के सामान्य कारण : जो देश काल आहार और विहार जिस दोष धातु या मल के समान गुण वाले होते हैं, उनके सेवन से उसी दोष, धातु या मल की वृद्धि होती है। यदि वह दोष क्षीणावस्था में हो तो उसे बढ़ाकर समावस्था में ला देता है, इसके विपरीत जो आहार-विहार औषध विपरीत गुणों वाले होते हैं, उनके सेवन से दोष, धातु या मल का क्षय होता है। यदि दोष आदि बढ़े हों, तो विपरीत गुणों वाले आहार-विहार का सेवन करके बढ़े हुए दोष क्षीण होकर समावस्था में आ जाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जो

कारण समान गुण होने से एक द्रव्य की वृद्धि करेगा तो वही दूसरे के विपरीत गुण होने के कारण उसका क्षय भी करेगा। जैसे : दूध समान गुणवाला होने से कफ, शुक्र आदि की वृद्धि करता है परन्तु विपरीत गुण वाले वातादि को क्षीण करता है।[146]

दोषों की विविधावस्था में कर्त्तव्य : जब तक शरीर में दोष, धातु ओर मलों की साम्यावस्था बनी रहती हैं तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। अतः यदि दोष समावस्या में हों तो स्वस्थवृत्त में बतायी गयी दिनचर्या एवं आहार-विहार का पालन करते हुए दोषों की समता को बनाये रखना चाहिए। क्योंकि दोष यदि अल्प मात्रा में विपम होंगे तो आरोग्य की स्थिति उत्पन्न करेंगे परन्तु यदि वैषम्य असाध्य कोटि में पहुँच गया हो तो मृत्यु का कारण बनते हैं।[147]

चूंकि विषमता प्रायः क्षय और वृद्धि रूप में पायी जाती है अतः इनके उपाय भी एक-दूसरे से विपरीत हैं। दोष यदि क्षीण हों तो उन्हें अपने-अपने वृद्धि करने वाले समान गुणों से युक्त द्रव्यों एवं समान कर्मों के सेवन से बढ़ाना चाहिए। दोष यदि बढ़े हुए हों तो इनके विपरीत द्रव्यों का सेवन करके उन्हें कम करना चाहिए।[148] परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इतनी वृद्धि या क्षय न कर दें कि समता का उल्लंघन हो जाए।

वात दोष के गुण एवं स्वरूप

सामान्यतः वायु के गुणों में कहा है कि वायु रजोगुण-भूपिष्ठता, सूक्ष्मता अर्थात् शरीर के सब छिद्रों में प्रवेश करने वाला, शीतवीर्य होना, रूखापन, हल्कापन और चंचलता माना जाता है।[149]

1. रजोगुण : शार्ङ्गधर के अनुसार वात दोष रजोगुण भूपिष्ठ होता है उदाहरणार्थ शरीर में यदि वात कुपित होता है तो शरीर तथा मन में भय, शोक, मोह, दीनता, अतिप्रलाप, लोभ, मधृति आदि लक्षण बढ़ जाएंगे जो कि रजोगुण-वृद्धि के कहे गए हैं।[150] यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि तीनों दोष त्रिगुणात्मक हैं, किसी भी एक गुण से किसी की सृष्टि की कल्पना भी असम्भव है पर वात में रजोगुण की प्रधानता होने से चल चंचल गुण की उत्पत्ति हुई है। इस गुण के कारण ही यह स्वयं गतिवान् है और दूसरों का प्रेरक भी है। सुश्रुत ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।[151]

2. सूक्ष्मता गुण : शार्ङ्गधर ने वायु का दूसरा गुण सूक्ष्म कहा है क्योंकि वायु सूक्ष्म गुण के कारण ही शरीर के सूक्ष्माति सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करने की क्षमता रखता है, इसी कारण शरीर के सूक्ष्म अवयवों में वात की गति है[152] क्योंकि शरीर में यदि वायु सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश की क्षमता रखता तो पोषक पदार्थ वहाँ तक किस प्रकार

पहुँचते। वायु की अत्यन्त सूक्ष्मता और इसी कारण सम्भव गतिशीलता के कारण मद्य अथवा विष कुछ क्षणों में ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। स्मरणीय यह है कि वात का सूक्ष्म गुण और श्लेष्मा का स्थूल गुण एक-दूसरे को मर्यादित रखते हैं।

3. शीत गुण : वायु का तीसरा गुण शीत कहा गया है। वात दोष की शान्ति उसके विपरीत गुण उष्ण से होती है तथा समान गुण शीत से वृद्धि होती है इसीलिए वातिक ज्वर में उष्ण सेवन की इच्छा एवं उष्ण उपचार से शरीर में श्वेद की उत्पत्ति होकर ज्वर की शान्ति होती है। इसी प्रकार वातिक भूल में उष्ण सेंक से लाभ मिलता है। यद्यपि वायु का स्पर्श अनुष्णशीत है[153] तथापि शरीरस्थ पंचीकृत वायु में शैत्य रहना अविरुद्ध है। इस वायु के अनुष्णाशीत स्पर्श के कारण ही निदान की दृष्टि से वायु को 'योगवाही' कहा है अर्थात् अपने साथ आ मिलने वाले अन्य दोष के गुण को यह शीघ्र ग्रहण कर लेता है और उसे बढ़ा देता है अर्थात् शीत और उष्ण दोनों को बढ़ाता है।[154]

4. रुक्षता गुण : शार्ङ्गधर ने वायु का चौथा गुण 'रुक्ष' कहा है यह वात के अन्य गुणों की अपेक्षा प्रधान गुण है।[155] जल महाभूत स्नेह का कारण है वायु दोष में इसकी अल्पता रहती है। यह स्निग्ध का विरोधी गुण है। इसी कारण श्लेष्मा द्वारा सम्भावित शरीर की स्निग्धता को कम करता है। वात प्रकृति मनुष्यों में शरीर की रुक्षता के साथ-साथ स्वभाव की रुक्षता रहती है। इसका कारण भी वात दोष का रुक्ष गुण ही है।[156]

5. लघुता गुण : शार्ङ्गधर ने वायु का पाँचवाँ गुण लघुता कहा है। यह लघुता गुण गुरुता के विपरीत है। लघुता और गुरुता सापेक्ष शब्द हैं, इस दृष्टि से वात, पित्त एवं कफ की अपेक्षा लघु है। इसका लघु गुण श्लेष्मा के गुरु गुण को कम करता है। वात प्रधान अवयवों में यह लघुता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। गुरु पदार्थों के सेवन से शरीर भारी होता है और शरीर की लघुता नष्ट होती है। अतः हम कह सकते हैं कि वायु में लघुता गुण है। वातिक प्रकृति के व्यक्तियों में शरीर की यह लघुता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।[157] शरीर और मन के लाघव दोनों में ही वायु का लघुता गुण ही कारण है।

6. चलनशीलता : शार्ङ्गधर ने वायु का छठा गुण चलनशीलता कहा है। वायु का पहला गुण रजोगुणमय कहा गया है, यह चलनशीलनता रजगुण का सहगामी गुण है।[158] यद्यपि यह बतलाया जा चुका है कि तीनों दोष त्रिगुणात्मक हैं पर वात में रजोगुण की प्रधानता होने से इसमें चल गुण की उत्पत्ति हुई है। इस गुण के प्रभाव से यह स्वयं भी गतिमान् है और दूसरों का प्रेरक भी है। शार्ङ्गधर ने कहा भी है कि पित्त, कफ धातुओं और मलों में यह चल गुण न होने से वे सब पंगुवत् अर्थात् निष्क्रिय हैं। ये सभी वात के चल गुण के द्वारा ही प्रेरित होकर शरीर के

विभिन्न भागों में पहुँचकर अपना-अपना कार्य निष्पादित करते हैं।[159]

शरीर के किसी अवयव में वात की वृद्धि हो जाए तो वहाँ पर गति बढ़ जाती है। शरीर के किसी अवयव में कम्प की स्थिति इस बात का द्योतक है कि वात के चल गुण की वृद्धि हुई है। शरीर के किसी अवयव में पक्षाघात की स्थिति चल गुण के अभाव का द्योतक है। यह वातक्षय की स्थिति अथवा अन्य दोष के द्वारा अभिभूत वात की स्थिति है।

यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि पक्षाघात की स्थिति में वातनाशक चिकित्सा उष्ण उपचार मालिश सेंक आदि की जाती है। वातशामक चिकित्सा तभी करेंगे जब वहाँ वात की वृद्धि हो परन्तु वहाँ अङ्गों में जड़ता के कारण वात के चल गुण का अभाव प्रतीत होता है।

इस शंका के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि पक्षाघात की स्थिति किस कारण से होती है, इस पर विचार करेंगे। पक्षाघात की उत्पत्ति बताते हुए चरक ने कहा है कि शरीर का एक पक्ष (अर्धाङ्ग) वह चाहे दाहिना हो या बायाँ यदि प्रबल वायु से आक्रान्त होने से निष्क्रिय हो जाए तो उसे पक्षवध, पक्षात, अर्धाङ्गवात, एकांगरोग या एकांगवात कहते हैं।[160]

सुश्रुत ने भी कहा है कि जिस समय अत्यन्त कुपित वायु अधोगामी तिर्यग्गामी और शरीर में ऊपर को जाने वाली, धमनियों (सिरा स्नायु आदि) में व्याप्त हो जाती है, उस समय एक पार्श्व के सन्धिबन्धनों को शिथिल बनाकर पक्ष (आधे शरीर) का हनन (चेष्टानाश) करती है, इसको श्रेष्ठ वैद्य पक्षाघात कहते हैं।[161]

यहाँ पर यह स्पष्ट है कि पक्षाघात का मुख्य कारण प्रकुपित वात है अतः प्रकुपित वात को शान्त करने के लिए वातनाशक उष्ण सेंक अभ्यंग आदि चिकित्सा करते हैं। जब किसी अंग में पक्षाघात का प्रभाव हो जाता है, उस समय उस अंग में वात प्रकुपित होकर उस अंग को निष्क्रिय कर देती है अर्थात् उस भाग में जो वात द्वारा क्रियाएँ में सम्पन्न होती हैं वे समाप्त हो जाती हैं इसीलिए पक्षापात में वात के चल गुण का अभाव बतलाया गया है।

वात प्रकृति मनुष्यों में वाचालता तथा मन की अस्थिरता में यही चलनशीलता गुण कारण है।[162] यह कफ के स्थिर गुण का विरोधी है।

प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में वायु के गुणों के वर्णन के प्रसंग में साम्य का अभाव भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—चरक में कुश साङ्कृत्यापन के नाम से वात के गुण रुक्ष लघु शीत दारुण, चल, खर और विशद ये छः गुण कहे हैं।[163] जबकि सुश्रुत के अनुसार वात, रुक्ष, शीत, लघु और खर गुणोंसे युक्त होता है, यह तिर्यग्गामी है और इसमें शब्द स्पर्श ये दो गुण भी हैं तथा रजोगुण प्रधान है।[164]

स्वीकार किया गया है। शार्ङ्गधर ने स्वास्थ्य के लिए पाचनक्रिया के समान ही अथवा उससे अधिक मलनिस्सारण क्रिया को महत्व देना ठीक समझा है क्योंकि मल का अवरोध समस्त रोगों का कारण हो जाता है। शरीर में यह कार्य अपान वायु करता है।

सुश्रुत ने भी कहा है कि श्रोणि और गुद के ऊपर और नाभि के नीचे पक्वाशय का स्थान है।[181]

पक्वाशय को पुरीषाधान या वस्तिशीर्षाधान भी कहा गया है, इससे विदित होता है कि मलाशय के अन्तर्गत गर्भाशय, योनि, मूत्राशय, मूत्रवह से स्थान आदि आ जाते हैं।

मलाशय (पक्वाशय, पुरीषाधानं) की रचना मांसपेशियों और कलाओं से इस प्रकार हुई है कि इसके अन्दर यथेष्ट अवकाश बना रहता है अतः इन अवकाशयुक्त स्थानों पर वात का होना निश्चित है। जब मल आदि इनमें एकत्र होता है तो इनके दबाव से तंत्रस्य नाड़ियों (Nerves) की प्रेरणा से इन अवयवों में संकोच-प्रसार होने लगता है और परिणाम स्वरूप मल आदि बाहर निकल जाते हैं। यह कर्म वायु के द्वारा ही होता है। चरक आदि ग्रंथों के अनुसार मलाशय या पक्वाशय आदि स्थानों पर प्रकुपित वात की शांति के लिए वस्ति के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए जिसके द्वारा स्थानीय वात की शांति के साथ-साथ सर्वशरीरगत वात भी शमन हो सके।[182]

मलाशय में जीवाणुओं की क्रिया के द्वारा वात विशेष रूप से उत्पन्न होता है अतः मलाशय वात का विशिष्ट स्थान है।

पक्वाशय के संबंध में यह तथ्य भी स्मरणीय है कि आहार पाक के समय पक्वाशय में उस द्रव्य का भी निर्माण होता है जो धातुरूप वात की पुष्टि करता है।

अवकाश स्थान में वायु का निवास तथा संकोच-प्रसार कार्य सर्वविदित है अतः मलाशय, कोष्ठ आदि को वायु का स्थान कहना सर्वथा युक्तियुक्त होगा। वाग्भट्ट आदि ने वात का स्थान कटिप्रदेश, वस्ति आदि भी कहा है।[183]

मलाशय और वस्ति कटिप्रदेश में स्थित हैं अतः कटि को भी वायु का स्थान कहा जा सकता है।

शार्ङ्गधर ने मलाशय और कोष्ठ के अतिरिक्त हृदय, कण्ठ और सर्वाङ्गशरीर भी वात के स्थान कहे हैं।[184]

सर्वाङ्गशरीरगत वात की स्पष्टता के लिए हमें इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि मस्तिष्क, सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, उदरगुहा, वस्तिगुहा, अस्थियों के भीतरी भाग आदि सम्पूर्ण शरीर में वातनाड़ियों (Nerves) या वातनाड़ी कोष्ठकों (Nerves Cells) का बहुत बड़ी संख्या में जाल-सा बिछा है और नाड़ी चक्रों का

भी विस्तार पाया जाता है यद्यपि हम वात को केवल वातनाड़ियों और वात कोष्ठकों में सीमित नहीं कर सकते हैं परन्तु फिर भी ये वात का वहन करते हैं।

हृदय द्वारा रक्त सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाया जाता है, इसमें भी वात कारण है और कंठ से हम बोलने का कार्य करते हैं, इसमें भी वात ही कारण है।[185]

अतः शार्ङ्गधर ने वात के जो अनेक स्थान बताए हैं, वे सभी युक्तियुक्त ही
...ट करते हैं,
...स्थ्य और
...।
...कार किया
...या गया है
...के कारण

...श) दोनों
...ाय विशेष

...यां, श्रोत्र,

..., फिर भी
...ख्य स्थान

... और गुदा

...कहा है कि
...ोणिप्रदेश)
...चित् स्वयं

...4. उदान,

शार्ङ्गधर ने जो ये वायु के पाँच भेद किए हैं, वे वात के पांच भेद होते हुए भी पाँचों पृथक्-पृथक् स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु वात के ही पाँच रूप हैं।

शरीर के विभिन्न पाँच भागों में वात के कार्य अलग-अलग देखने में आते हैं

स्वीकार किया गया है। शार्ङ्गधर ने स्वास्थ्य के लिए पाचनक्रिया के समान ही

दिनाँक	सदस्य संख्या	दिनाँक	सदस्य संख्या

शार्ङ्गधर ने मलाशय और कोष्ठ के अतिरिक्त हृदय, कण्ठ और सर्वाङ्गशरीर भी वात के स्थान कहे हैं।[184]

सर्वाङ्गशरीरगत वात की स्पष्टता के लिए हमें इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि मस्तिष्क, सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, उदरगुहा, वस्तिगुहा, अस्थियों के भीतरी भाग आदि सम्पूर्ण शरीर में वातनाड़ियों (Nerves) या वातनाड़ी कोष्ठकों (Nerves Cells) का बहुत बड़ी संख्या में जाल-सा बिछा है और नाड़ी चक्रों का

भी विस्तार पाया जाता है यद्यपि हम वात को केवल वातनाड़ियों और वात कोष्ठकों में सीमित नहीं कर सकते हैं परन्तु फिर भी ये वात का वहन करते हैं।

हृदय द्वारा रक्त सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाया जाता है, इसमें भी वात कारण है और कंठ से हम बोलने का कार्य करते हैं, इसमें भी वात ही कारण है।[185]

अतः शार्ङ्गधर ने वात के जो अनेक स्थान बताए हैं वे सभी युक्तियुक्त ही मानने चाहिएँ। उपर्युक्त सभी स्थल वात के विशिष्ट कर्मों को भी स्पष्ट करते हैं, जिसके कारण वात के देहव्यापी होने का संकेत मिलता है दैनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से मलाशय या पक्वाशय का अपना विशिष्ट स्थान है।

अथर्ववेद एवं अन्य संहिताग्रंथों में वात के स्थानों का वर्णन इस प्रकार किया गया है। अथर्ववेद के अनुसार वायु का स्थान मस्तिष्क भी है, वहाँ बताया गया है कि ईश्वर ने पुरुष के शिर तथा हृदय को परस्पर सीआ है, इसी संबंध के कारण वायु शिर में स्थित मस्तिष्क में ऊपर रहता हुआ प्रेरणा करता है।[186]

चरक के अनुसार वस्ति, पुरीषाधान (स्थूलांत्र), कटि प्रदेश (पेल्विश) दोनों सक्थियाँ (जाँघें) तथा पैर और अस्थियाँ वात के स्थान हैं। इनमें पक्वाशय विशेष वात का स्थान है।[187]

वाग्भट्ट के अनुसार पक्वाशय, कटिप्रदेश, सक्थि (जाँघें) पैर, अस्थियाँ, श्रोत्र, त्वचा बताये हैं, इनमें भी पक्वाशय विशेष वात का स्थान है।[188]

काश्यपसंहिता के अनुसार यद्यपि वात, पित्त, श्लेष्मा सर्वदेहगामी हैं, फिर भी उनके विशेष-विशेष स्थान और विशिष्ट कर्म हैं। इनमें से वात का मुख्य स्थान नाभि के नीचे का प्रदेश, अस्थियाँ और मज्जा हैं।[189]

उसी प्रकार सुश्रुत ने संक्षेप में वात के स्थान श्रोणि (कटिप्रदेश) और गुदा तथा पक्वाधान कहे हैं।[190]

श्री उग्रादित्याचार्य ने कल्याणकारक में वात के स्थान बताते हुए कहा है कि सर्वशरीर में संचरण करने वाला वायु विशेषकर नितंबप्रदेश, कटि (श्रोणिप्रदेश) जोड़ों का जोड़ (राङ्) व गुप्त प्रदेश में निवास करता है। यदि कदाचित् स्वयं दूषित हो जाए तो देह को भी दूषित करता है।[191]

प्राकृत वात के भेद

शार्ङ्गधर ने वायु के पाँच भेद किए हैं। 1. अपान, 2. समान, 3. प्राण, 4. उदान, 5. व्यान।[192]

शार्ङ्गधर ने जो ये वायु के पाँच भेद किए हैं, वे वात के पांच भेद होते हुए भी पाँचों पृथक्-पृथक् स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु वात के ही पाँच रूप हैं।

शरीर के विभिन्न पाँच भागों में वात के कार्य अलग-अलग देखने में आते हैं

और इन स्थानों पर इनके विकृत होने पर रोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पन्न होते हैं। इसी कारण वात के अलग-अलग पाँच नाम दे दिए जाते हैं।[193]

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए वात के भेदों के विषय में सुश्रुत ने भी कहा है कि प्राकृत वात एक होता हुआ भी नाम, स्थान, कर्म और रोगभेद से पाँच रूपों में भिन्न हो गया है। इन पाँचों के नाम प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान हैं। ये जब तक अपने-अपने क्षेत्रों में स्थित होकर कार्यसंलग्न रहते हैं, तब तक देह का ठीक प्रकार से संचालन होता है और इनके विकृत होने पर अनेक रोग जन्म लेते हैं।[194] यही मत चरकसंहिताकार का है।[195]

अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदयकार वाग्भट्ट के अनुसार ये तीनों वात, पित्त, श्लेष्मा पाँच-पाँच रूपों में विभक्त हो जाते हैं। इनमें से वात के भेद प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान पाँच भेद किए हैं।[196]

भेलसंहिताकार ने भी वायु के पाँच भेद करते हुए कहा है कि उदान वायु ऊपर की ओर जाता है, व्यान वायु तिर्यक् गमन करता है, प्राण प्रीणन कर्म करता है, अपान वायु शरीर का प्रवर्तन करता, है समान वायु शरीर को धारण करता है।[197]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्पंदन, उद्वहन, पूरक, विवेक और धारण इन कार्यों को करने वाला वायु पाँच भागों में विभक्त होकर शरीर का उपकार करता है, जिनमें प्राण का कार्य प्रस्पंदन, उदान का कार्य उद्वहन, समान का कार्य विवेक, अपान का कार्य धारण तथा व्यान का कार्य पूरण है। हृदय के संकोच प्रसार का कार्य प्रस्पंदन नाम से अभिहित हुआ है जो प्राण का कार्य कहा गया है। इंद्रिय तथा विषयों का धारण कर्म उद्वहन है, रस-मूत्र और पुरीष के पृथक् करने का कार्य धारण है, समस्त शरीर की वाहिनियों को रस, रक्त से भरा पूरा रखना पूरण कहलाता है।

उपरोक्त प्राण, उदान, समान, अपान और व्यान का विशेष विवेचन अग्रिम पृष्ठों में द्रष्टव्य है।

प्राण वायु

प्राण वायु को हृदय में स्वीकार किया जाता है।[198]

हृदय के विषय में शार्ङ्गधर ने कहा है कि यह चेतना का स्थान है तथा भोज का भी आधार है।[199]

प्राण वायु का शरीर में विशेष कार्य है। शार्ङ्गधर के अनुसार यह हृदय से नाभि तक अपना प्रभाव करता है। यह नासिका द्वारा शरीर के भीतर पहुँचकर

हृदयकमल के समीप के भाग को अर्थात् फुफ्फुसों को स्पर्श करता हुआ कंठ से बाहर निकल जाता है क्योंकि वह बाहर आकर आकाश के अमृत अर्थात् आक्सीजन को लेकर पुनः वेग से श्वाँस के रूप में भीतर आता है और समस्त देह का प्रीणन-कर्म या क्षतिपूर्ति कर्म करता हुआ जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।[200]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने प्राणवायु को उच्छ्वास और निःश्वास के साथ-साथ फुफ्फुसों में जाने-आने वाले वायु के रूप में उल्लेख साथ ही उनके 'नाभिस्थः पवनः प्राणः' वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि गर्भ में शिशु को जो प्राणवायु (ऑक्सीजन) माता के रक्त द्वारा प्राप्त होती है, वह गर्भस्थ शिशु के शरीर में नाभिनाल के द्वारा ही पहुँचता है। अतः शार्ङ्गधर का उपरोक्त कथन भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

प्राणवायु के प्रवेश मार्ग के नासिका, मुख, कंठ आदि अवयव हैं। इनके द्वारा ही वायु फुफ्फुसों में गहराई तक जा पहुँचता है। उच्छ्वास-निःश्वास की प्रक्रिया द्वारा प्राणवायु के गति करने के समय वक्ष तथा उदर की मांसपेशियाँ भी गति करती हैं और नाभि तक का प्रदेश प्रभावित होता है। इस कारण भी शार्ङ्गधर ने प्राण को नाभि स्थित माना है।

यह प्राणवायु उपर्युक्त मार्गों द्वारा उरस् में पहुँचकर हृत्कमनांतर में (हृदय के आस-पास चारों ओर) अर्थात् फुफ्फुसों में भर जाता है। फुफ्फुसों से रक्त में मिलकर यह हृदय में पहुँचता है। हृदय के भीतर अमृतमय प्राणद्रव्य से मिश्रित रक्त सदा बना रहता है, इसी कारण शार्ङ्गधर ने 'हृदि प्राणः' अर्थात् प्राण का स्थान हृदय भी कहा है।

इसके उपरांत फुफ्फुसों द्वारा निकाला गया दूषित अर्थात् (कार्बनडाइ-आक्साइड) युक्त वायु नासिका मुख आदि द्वारा वेग से बाहर निकलता है और अमृत अर्थात् ऑक्सीजन पीने आकाश में चला जाता है।

अमृतयुक्त होकर यह प्राणवायु के रूप में पुनः फुफ्फुसों में आता है और रक्त के साथ मिलकर हृदय में पहुँचता है। इस प्रकार यह रक्त में से कार्बनडाइ-आक्साइ गैस अर्थात् विष को निकालकर उसके स्थान पर अमृत अर्थात् आक्सीजन को पहुँचाकर यह देहप्रीणन अर्थात् शरीर को पोषण देता रहता है। इस अमृतरूपी (आक्सीजनयुक्त) रक्त से जहाँ शरीर के सभी कोषों को जीवनतत्व मिलता है, वहीं पाचकाग्नि भी प्रज्वलित होती रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शार्ङ्गधर ने जो प्राणवायु को 'अमृतमय' वायु कहा है वह आधुनिकों के मतानुसार भी आक्सीजनयुक्त वायु ही है।

अन्य संहिताग्रंथों एवं उपनिषदों में प्राणवायु का इतना विस्तृत विवेचन नहीं प्राप्त होता है, जितना शार्ङ्गधर के वचनों में प्राप्त है। उदाहरणार्थ छांदोग्य उपनिषद् में कहा है, कि मनुष्य जो वायु अंदर खींचता है, उसे प्राण कहते हैं।[201]

चरक ने प्राणवायु के स्थान, शिर, छाती, कान, जीभ, मुख और नासिका बतलाए हैं, उनके अनुसार प्राणवायु के द्वारा थूकना, छींकना, डकार आना, साँस लेना और भोजन का निगलना आदि कर्म होते हैं।[202]

सुश्रुत ने प्राण का स्थान वक्त्र कहा है। वक्त्र से मुख, उदस्, कंठ इन सभी अवयवों का ग्रहण करना चाहिए। इन्होंने वात का विवेचन करते हुए कहा है कि जो वायु मुख में संचार करता है, उसका नाम प्राण है। वह शरीर को चेतन बनाए रखता है। वही अन्न आदि को उदर में प्रविष्ट कराता है और वही प्राणों को साहाय्य प्रदान करता है।[203]

भेल संहिता में प्राण को जीव बताते हुए कहा है कि "प्राण सब प्राणियों के शरीर में प्रीणन कर्म अर्थात् क्षतिपूर्ति का कार्य सम्पन्न कराता है।"[204]

वाग्भट्ट ने भी अष्टांगहृदय व अष्टांगसंग्रह में कहा है कि प्राण वायु मुख्यतः शिर में स्थित है। यह कंठ तथा उरःप्रदेश तक संचार करता है, उनके अनुसार इसके कार्य निम्न प्रकार हैं—बुद्धिधारण, इंद्रियधारण, मनोधारण, धमनीधारण अर्थात् सभी इंद्रियों को अपने-अपने अर्थ के ग्रहण करने मस्तिष्क या विचारशक्ति को स्थिर रखना, थूकने, छींकने, डकार लेने श्वांस ग्रहण करने, निःश्वास को बाहर ले जाने, अन्न जल को पेट के भीतर पहुँचाने आदि की क्रियाएँ कराना।[205]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य संहिताग्रंथों की अपेक्षा शार्ङ्गधर ने प्राणवायु का विवेचन विस्तार रूप में किया। आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता भी की शार्ङ्गधर के निकट ही दिखाई पड़ती है।

उदान वायु

उदान वायु कंठ में स्थित रहती है और वहाँ पर कंठ द्वारा जो गीत भाषण आदि कार्य होते हैं, उनको पूर्ण करता है।[206]

उदान वायु का मुख्य कार्य स्वरोत्पत्ति और वर्णोच्चारण है। इसीलिए शार्ङ्गधर ने उदान वायु का स्थान केवल कंठ ही बतलाया है। उदान वायु के द्वारा शब्द के उद्भव की प्रक्रिया इस प्रकार है। उदान वायु की शक्ति से महाप्राचीरा पेशी (डायफ्राम) ऊपर की ओर वेग से उठती है और उदर तथा छाती की पेशियों में संकोच होता है, जिससे फुफ्फुसों की वायु ऊपर की ओर उठकर कंठ (स्वरयंत्र) में स्थित स्वरतंत्री को प्रेरित करती है और तब शब्द उत्पन्न होता है। शब्द उत्पत्ति के संबंध में आचार्य पाणिनि ने कहा है कि जीवात्मा को जब किसी विषय को कहने की इच्छा होती है तो वह बुद्धि से संयुक्त होकर मन का प्रेरण करता है। मन कायाग्नि को ताड़ित करता है, जिसके द्वारा प्रेरित फुफ्फुसगत वायु उरप्रदेश में संचार करता है और वहाँ पर उदान वायु की क्रिया होकर स्वरयंत्र में संचार

करती हुई ऊपर उठती है और कंठगत आकाश में शब्द का प्रादुर्भाव होता है। भिन्न वर्णों एवं अक्षरों के उच्चारण में स्वरयंत्र के साथ-साथ मूर्धा, तालु, जिह्वा-मूल, जिह्वा, दंत, ओष्ठ, मुख, नासिका और उरःस्थल भी सहायक होते हैं अर्थात् उदान वायु की शक्ति से उपरोक्त अवयवों की सहायता से हमारे मुख से भिन्न-भिन्न ध्वनियों का उद्भव होता है और हम वार्तालाप, भाषण आदि कर सकते हैं।[207]

शार्ङ्गधर ने जो उदान वायु का स्थान कण्ठ कहा है और कण्ठ द्वारा शब्द की उत्पत्ति बतलायी गयी है । वह वैज्ञानिक एवं युक्ति-युक्त है क्योंकि वैज्ञानिकों का मत भी इसी प्रकार है, उनके अनुसार एक्सपायर्ड एयर (Expired Air) के वोकल एपरेटस (Vocal Apparatus) में स्थित Vocal Card से टकराने से वाणी उत्पन्न होती है । वाणी का नियन्त्रण मस्तिष्क में स्थित स्पीच सेन्टर (Speech Canter) करता है। प्राचीनों ने भी मूर्धा को वाणी उत्पत्ति में कारण बताया है, जिसका अर्थ स्पीच सेन्टर (Speech Canter) हो सकता है। Vocal Apparatus का समावेश कण्ठ में हो जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शार्ङ्गधर का उदान कार्य-विषयक मत ईशा पूर्व 4-2 शताब्दी के आचार्य पाणिनी से सम्पूर्ण सामंजस्य रखता है। वहीं आधुनिक वैज्ञानिक भी उससे सर्वथा अभिन्न मत रखते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी उदान वायु का कार्य स्वर उत्पन्न करना बताया गया है।[208]

चरक ने उदान वायु के स्थान कण्ठ के अतिरिक्त नाभि-उरःस्थल प्रदेश भी कहे हैं, उनके अनुसार वाणी को प्रवृत्त कराने के अतिरिक्त मन को प्रेरणा देना और उत्साह-बल-वर्ण आदि उत्पन्न करना भी इसके कर्म हैं।[209]

सुश्रुत के अनुसार उदान वायु वह है जो ऊपर की ओर गति करता है और उसके द्वारा भाषण, गीत, गायन आदि कार्य सम्पन्न किए जाते हैं।[210]

भेल के अनुसार प्राणी के भीतर जो भी ऊर्ध्वगामिनी क्रिया-चेष्टाएँ देखने में आती हैं वे उदान की प्रेरणा से होती हैं।[211]

वाग्भट्ट ने भी उदान वायु का स्थान उरःप्रदेश कहा है। यद्यपि उनके अनुसार भी बोलने की प्रवृत्ति होना, स्वरोच्चारण, भाषण-गायन आदि के लिए मन को प्रेरित करना, मन को सचेष्ट रखना आदि ये सब उदान वायु के ही कार्य हैं।[212]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने उदान वायु का स्थान केवल कण्ठ ही बताया है क्योंकि इसी से बोलने की प्रक्रिया का कार्य पूर्ण होता है। जबकि अन्य संहिता ग्रन्थों ने नाभि व उरःस्थल आदि भी बताये हैं। अतः शार्ङ्गधर द्वारा निर्देशित उदान वायु का स्थान कण्ठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है और सभी ने भी इसी बात को स्वीकार करते हुए ज्यादा विस्तार कर दिया है।

समान वायु

शार्ङ्गधर ने समान वायु का स्थान कोष्ठ और बह्निस्थान कहा है।[213] किन्तु शार्ङ्गधर संहिता के टीकाकार ने समान वायु का स्थान नाभि-प्रदेश माना है।[214]

समान वायु के कार्य बतलाते हुए शार्ङ्गधर ने स्पष्ट किया है कि हम जो आहार लेते हैं वह पाचक पित्त से विदग्ध होकर अम्लीभूत हो जाता है फिर यह समान वायु उस विदग्ध हुए रस को ग्रहणी में ले जाता है ग्रहणी में यह रस काष्ठाग्नि से पककर कटुरस युक्त हो जाता है फिर इसका पचन होकर रस धातु बनाता है।[215]

इसके उपरान्त यह रस धातु समान वात से संवाहित होकर हृदय की ओर जाता है।[216]

इस प्रकार उनके अनुसार कोष्ठस्थान में पहुँचने के बाद से समान वायु से संचालित होती है। अतः समान वायु को कोष्ठ स्थानी मानना उचित ही है।

चरक के अनुसार कोष्ठ के अन्तर्गत निम्नलिखित अवयव आते हैं अन्नप्रणाली, आमाशय, पक्वाशय, यकृत् उत्तर गुद, अधर गुद, क्षुद्रान्त्र, वृहदोन्र्ग, पुरीषाधार, नाभि, हृदय, क्लोम, वृक्क, वस्ति, वपा वहत, प्लीहा।[217]

अन्नप्रणाली या पाचनतन्त्र

पाचनतन्त्र का कार्य भोजन ग्रहण करना तथा उसे समांगीकरण (Assimilation) के योग्य बनता है। आहार नाल (Alimentary Conal) में निम्नलिखित अंग सम्मिलित होते हैं।

(1) मुख, (2) ग्रसनी, (3) ग्रासनली, (4) आमाशय, (5) क्षुत्र एवं वृहद अन्त्र।

सर्वप्रथम मुख और दन्त भोजन को चबाने व निगलने तथा स्वाद लेने में सहायक होते हैं। इसके साथ ही इसमें कुछ ग्रन्थियों का स्राव मिलता है जैसे मुख में खुलने वाली लाला ग्रन्थियाँ। आगे चलकर आहार के साथ ही पवृत और अग्न्याशय रस भी मिलता हैं।

पाचन क्रिया द्वारा भोजन विघटित होकर शरीर के ग्रहण करने योग्य सरल पदार्थों में बदल जाता है, इस क्रिया में पाचक रसों से सहायता मिलती है।

इस प्रकार पाचन-कर्म एक ऐसा कार्य है, जिसमें हमारे शरीर में से उत्पन्न अनेक प्रकार के पाचक स्राव या जीव-रसायन द्रव्य शरीर के भीतर पहुँचे हुए अन्न पर अनेक प्रकार की भौतिक और रासायनिक क्रिया करते हैं। आयुर्वेदीय क्रिया शरीर की दृष्टि में इन जीव-रसायन द्रव्यों को पाचक पित्त या पाचकाग्नि के नाम से कहा गया है। इन्हीं की अन्न आदि पर रासायनिक क्रियाएँ होती हैं जिन्हें अग्नि कर्म कहते हैं।

पचन के इस रसायन कर्म को जो सम्पन्न करता है, उसे पाचक पित्त और जो सम्पन्न करता है उसे 'समान वात' कहा गया है।

इन प्रक्रियाओं को समझने के लिए पचन या पाककर्म को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(1) सामान्य पाक।

(2) विशिष्ट पाक।

(1) **सामान्य पाक** : यह मुख में तथा आमाशय में होता है। इसके सम्पन्न कराने के लिए प्रायः भौतिक क्रियाएँ ही पर्याप्त होती हैं।

(2) **विशिष्ट पाक** : यह गृहणी तथा अन्य कोष्ठाङ्गों में होता है। इसे सम्पन्न कराने में आग्नेय प्रकृति के अनेक द्रव्यों के रूप में विभिन्न स्राव व रस सहायता करते हैं। कुछ आग्नेय द्रव्य इस प्रकार के भी होते हैं जो उत्तेजन कर्म करके विशिष्ट अग्नियों को, उनके अपने-अपने स्रोतों से प्रकट कराते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त कुछ अन्य चलप्रकृति के सूक्ष्म द्रव्य भी पचन कर्म में सहयोग करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त पाचन और दीपन द्रव्य अर्थात् अग्नि और प्रेरक द्रव्य अर्थात् वात इन दोनों के सहयोग से यह पचनात्मक विशेष पाक सम्पन्न होता है।

पचता हुआ आहार जब चर्वित मथित होकर फेनिल हो जाता है तब यह आमाशय में पहुँचता है।[218] आमाशय में यहाँ की अग्नियों की क्रिया के उपरान्त, पार्थिव और आप्य अन्न भाग तो अर्धपक्व-सी अवस्था को प्राप्त होते हैं और आग्नेय तथा वायव्य अन्न भाग अब अलग-अलग होकर स्वतन्त्र रूप में आ जाते हैं। अभिप्राय यह है कि यहाँ की कुछ अग्नियों की क्रियाओं के उपरान्त आहार, अम्लीय बन चुकता है। अन्न के इस रूप को शार्ङ्गधर ने विदग्ध रूप माना है।[219]

विदग्ध, अम्लीय और पच्यमान आहार पर अब अग्रिम पचनकर्म की मुख्य प्रक्रिया आरम्भ होती है और समान वात इस पच्यमान आहार को मुख्य अग्नि स्थल गृहणी की ओर जाने के लिए प्रेरित करता है।[220] इस समय महास्रोतोगत प्राणदा नाड़ी के सूत्रों में स्थित समानवात की प्रेरणा द्वारा तथा अम्लीभूत आहार के संस्पर्श से गृहणी का द्वार खुलने लगता है यहाँ पर गृहणी के आग्नेय रसों का मिश्रण होता है। इसके बाद आहार क्षुद्रान्त्र में पहुँचता है जहाँ पर पूर्वपक्व आहारांशों का उपशोषण भी होता रहता है और अर्धपक्व भागों का अन्तिम पचन भी होता है। इसके बाद वृहदन्त्र में जल व लवण का शोषण होकर मल द्वार से किट्ट भाग शरीर से बाहर निकल जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पचन कर्म में समान वात का महत्वपूर्ण योगदान है। तथा उपरोक्त अन्य अवयवों के कार्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी अवयवों से पाचन और धात्वीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले क्रिया शरीर सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होते हैं। ये सभी कार्य समान वायु की

प्रेरणा से होते हैं।

सुश्रुत व वाग्भट्ट ने भी कोष्ठ-अग्नि को अन्तराग्नि और जठराग्नि के नाम से उल्लेख किया है। अष्टांगसंग्रह की इन्दु टीका में अन्तःअग्नि का स्थान पक्वाशय व आमाशय के बीच नाभि के वाम भाग में आधा अंगुल पर स्थित बताया है।[221]

हमारे शरीर में शार्ङ्गधरोक्त बह्नि एवं सुश्रुतोक्त जठराग्नि तथा वाग्भट्टोक्त अन्तराग्नि आहार पाक और धातुपाक की क्रियाओं को करता है, इस प्रकार इस अग्नि को कार्य की दृष्टि से पाचकाग्नि और धात्वाग्नि के नाम से अलग-अलग भी कहा जाता है। इस समान वायु द्वारा संधुक्षित उपरोक्त दोनों अग्नियों द्वारा आहारपाक व धातुपाक के समय दोनों के प्रसाद एवं मल भाग पृथक् होते रहते हैं। प्रसाद भाग के रूप में पाचकाग्नि द्वारा शरीर के पोषक आहार-रस की ओर मल भाग के रूप में मूत्र, पुरीष, स्वेद, वायु आदि की उत्पत्ति होती है। धात्वाग्नि द्वारा प्रसाद भाग से रस, रक्त, मांस, शुक्र आदि की तथा मल भाग से स्वेद कफ, पित्तादि की उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाचकाग्नि एवं धात्वाग्नि के माध्यम से पोषक और सरल तत्व का पृथक्करण एवं मल का अधोनयन समान वायु के द्वारा ही होता है अतः उसके समान वायु के स्थानों में आमाशय, पक्वाशय, दोषवाही और अम्बुवाही स्रोतों का भी उल्लेख किया जाना अनुचित नहीं है।

इस प्रसाद एवं मल के पृथक्करण की प्रक्रिया के विषय में यदि हम आधुनिक दृष्टि से विचार करें तो पता चलता है कि पचन के बाद छोटी आँतों में मल का शोषण होता है। यह कार्य वहाँ पर स्थित विल्लाई (Villi) करती हैं। विल्लाई द्वारा आचूषण का यह कार्य समान वायु से प्राप्त गतियों पर निर्भर है ऐसा कहना होगा। आचूषित भाग अन्न का प्रसाद भाग (आहार रस) कहा जाता है तथा शेष भाग किट्ट के रूप में रह जाता है जो पेरिस्टेल्टिक मूवमेन्ट (Peristeltic Movement) के द्वारा आगे वृहद् अन्त्र की ओर बढ़ जाता है।

इस वायु के वाचक समान शब्द की व्युत्पत्ति 'समं समन्तात् नयति इति समानः' से यही स्पष्ट होता है कि हम जो आहार लेते हैं उसको पाचन क्रियाओं द्वारा सम्यक् रूप से आत्मीकृत् करने का कार्य समानवायु का ही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शार्ङ्गधर की दीपिका टीका में समान का स्थान नाभिप्रदेश भी कहा है। नाभि को समान वायु का स्थान मानने का कारण यह है कि नाभिप्रदेश में स्थित आमाशय, यकृत्, अग्न्याशय, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र आदि सभी अवयव, पाचन क्रिया में भाग लेते हैं। इनके स्रावों द्वारा पचाये गये आहार द्रव्यों के रस भाग आन्त्र द्वारा शोषित किया जाता है, यह कार्य भी समान वायु के सहयोग से होता है। जब समान वायु क्षीण हो जाता है तब खाद्य वस्तुओं के पचन आचूषण और आत्मीकरण की प्रक्रियायें भी मन्द होने

लगती हैं। इसी दृष्टि से नाभि को समान वायु का मुख्य केन्द्र माना जाता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से आमाशय तथा आन्त्र में उपस्थित अनेक पाचक रस अन्नपचन का कार्य करते हैं। इन पाचक रसों का स्राव वहाँ पर स्थित ग्रन्थियों, यकृत, अग्न्याशय आदि से होता है। इन ग्रन्थियों को प्रेरित करने का कार्य समान वायु का ही है, जिससे पाचक रस ठीक प्रकार से निकलें। पाचन संस्थान में पेरिस्टेल्टिक वेव (Peristeltic Wave) का कारण समान वायु ही है यह कहा जा सकता है क्योंकि पेरिस्टेल्टिक वेव से अन्नपचन तथा अन्न के आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा समान वायु की प्रेरणा से रस का जब आचूषण हो चुकता है, तब यह रस रसावाहनियों और प्रतिहारणी शिरा द्वारा हृदय में पहुंचता है। रस को इन स्रोतसों में से प्रवाहित कराते हुए हृदय तक पहुँचा देने का कार्य भी समान वायु की प्रेरणा से ही होता है। इसीलिए शार्ङ्गधर ने समान वायु का मूल स्थान नाभि या वह्निस्थान का उल्लेख करके रस को हृदय तक पहुँचा देने की महत्वपूर्ण प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि 'रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः'।

प्राचीन आचार्यों ने समान वायु के कर्म एवं स्थान निम्न प्रकार कहे हैं—चरक के अनुसार समान वायु स्वेदवह, दोषवह तथा अम्बुवह स्रोतों में आश्रित रहता है साथ ही अन्तराग्नि के पार्श्व में स्थित होने के कारण यह वायु अग्नि का दीपक बल को देने वाला भी है।[222]

सुश्रुत के अनुसार समान वायु पच्यमान आहार के आशय स्थान आमाशय में जठराग्नि के पार्श्वस्थ है। यह अन्न का पचन करती है तथा अन्न से उत्पन्न होने वाले रस, दोष, मूत्र मलों को पृथक् करती है।[223]

वाग्भट्ट के अनुसार समान वायु अन्तःअग्नि के समीप पक्वाशय आमाशय के समीप रहता है और उसको सुलगाता है। पक्वाशय, आमाशय, दोष, मल, शुक्र, आर्तव एवं अम्बु (रस) के साथ विचरण करता है। स्रोतों में विचरण कर उनमें अन्न रस का धारण, पाचन, विवेचन, किट्ट को नीचे की ओर लेना आदि इसके कार्य हैं।[224]

भेलसंहिता के अनुसार समान वायु के द्वारा ही शरीरधारियों के शरीर का धारण होता है।[225]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द भेद होते हुए भी सभी आचार्यों के मत परस्पर भिन्न नहीं हैं और इस प्रश्न पर प्रायः सभी एकमत हैं कि पाचन व्यापार को प्रेरणा देने का मुख्य श्रेय समान वायु को ही है। अतः इसका स्थान कोष्ठ है यह भी निर्विवादरूप से माना जा सकता है।

व्यानवायु

व्यान वायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर माना जाता है।[226] व्यान वायु को व्यान क्यों कहते हैं इसका उत्तर देते हुए तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने कहा है कि नाड़ियों के मुखों का वितनन (फैलाव) करने के कारण इसे व्यान कहते हैं।[227]

शार्ङ्गधर ने व्यान वायु के विषय में केवल यह कहा है कि व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में रहकर अपना कार्य करता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यान वायु के द्वारा रस एवं रक्त का संवहन सम्पूर्ण शरीर में होता है। व्यान वायु की स्थिति अन्य संहिताकारों ने भी सम्पूर्ण शरीर में ही स्वीकार की है।

रस संवहन का कार्य हृदय द्वारा होता है और हृदय का संकोच एवं प्रसार व्यान वायु द्वारा ही होता है इसी कारण हृदय के संकोच के समय हृदयस्थित रक्त वेगपूर्वक बाहर धमनियों में पहुँचता है और हृदय के प्रसारकाल में फुफ्फुसों से आने वाला शुद्ध रक्त इसके अन्दर खाली हुए स्थान में भर जाता है। यह हृदय की पेशियों का संकोच व प्रसार व्यान वायु की प्रेरणा से ही होता है। हृदय के द्वारा फेंका गया रक्त जब धमनियों में पहुँचता है तो व्यान वायु के द्वारा ही उनमें प्रसार होता है वे रुधिर में पूर्ण होते समय फैलती है, इसके उपरान्त उनमें भी संकोच होने से रक्त आगे की ओर गति करता है। धमनियों के इस संकोच व प्रसार को आधुनिक भाषा में (Elasticity of Blood Vessels) कहते हैं। यह प्रक्रिया शरीर में निरन्तर स्वप्न और सुषुप्तिकाल में भी चलती रहती है। यह रक्त धमनियों में बहता हुआ जब कोशिकाओं (Blood Capillaries) में पहुँचता है तो उनकी पतली भित्तियों से इसका श्वेत द्रव भाग (Lymfh) छनकर रसवह संस्थान (Lymfhatic System) में आ जाता है। यही रस शरीर की सब धातुओं को पोषण प्रदान करता है। इसीलिए शार्ङ्गधर ने व्यान वायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर कहा है और सुश्रुत ने इसी कार्य को व्यान वायु का 'रस संवहन' कर्म का नाम दिया है।[228]

शरीर में होने वाली गतियाँ उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन प्रसार और गमन अर्थात् शरीर के सभी Motor Action का कारण भी व्यान वायु ही है।

शरीर में श्वेद त्वचा के अनेक रोमकूपों से निकलता रहता है। क्योंकि प्रत्येक रोमकूप में श्वेद ग्रन्थियाँ होती हैं। व्यान वायु की प्रेरणा से कोशिकाओं के रुधिर से जलीय अंश को श्वेदग्रन्थियाँ इकट्ठा कर स्वेद के रूप में आवश्यकता पड़ने पर शरीर से बाहर निकलती हैं।[229]

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि व्यान वायु हृदय में स्थित रहकर रस-रक्त का संवहन अर्थात् Lymfhatic System तथा Blood Circulation System (रसवह व रक्तवह संस्थान) की क्रियाओं का नियन्त्रण करते हुए देह धातुओं का पोषण करता है। शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक

मांसपेशियों में चेष्टा या गति कराना, स्वेद स्राव आदि सभी कार्य व्यान वायु की प्रेरणा से होती है। इसीलिए शार्ङ्गधर ने व्यान वायु का स्थान सर्वशरीर कहा है।

इस तथ्य को सर्वप्रथम महामुनि चरक ने घोषित किया था, उनके अनुसार शीघ्रगामी व्यान वायु मनुष्यों के समस्त शरीर में व्याप्त होता है। व्यान वायु की क्रियाएँ शरीर में गति या चेष्टा करना, किसी अवयव को फैलाना, अंगों का संचालन, पलकों को गिराना आदि हैं। इसके साथ-ही-साथ शरीर में व्यान वायु के द्वारा रस धातु सभी ओर एक साथ अनवरत गति से पहुँचाया जाता है।[230]

सुश्रुतकार की भी मान्यता उपर्युक्त प्रकार ही है। उन्होंने संचार कराने का कार्य करता हुआ सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है। यह स्वेदस्राव कराता है और रक्त का भी परिस्रवण कराता रहता है, साथ ही पाँच प्रकार की चेष्टाएँ जैसे— फैलाना, सिकोड़ना, झुकना, उठाना, तिरछे मोड़ना व्यान वायु के कारण ही होती है।[231]

भेलसंहिता के अनुसार शरीर की मांसपेशियों में होने वाली गतियाँ तथा पलकों का गिरना-उठना आदि अनेक प्रकार की शरीर-चेष्टाएँ व्यान वायु द्वारा ही सम्पन्न होती हैं।[232]

वाग्भट्ट के अनुसार व्यान वायु हृदय में अवस्थित है और वहाँ से सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता रहता है अन्य वायु भेदों, प्राण उदान आदि की अपेक्षा इसकी गति तीव्र है। इसके कर्म शरीर के अंगों का संचालन आदि कहे हैं।[233]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने व्यान वायु को सर्वशरीरगत माना है, वह निर्विवाद और सर्वस्वीकृत है।

अपान वायु

अपान शब्द अप् तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक 'णि प्रापणे' धातु से अपान शब्द बनता है। अप्+आ+नयति इति अपानः अर्थात् वह वायु जो नीचे और बाहर की दिशा में गति दे उसे अपान कहते हैं। वाचस्पत्यं के अनुसार महास्रोतस में आये हुए और पचे हुए आहार के अवशिष्ट अंश-मल-मूत्र वायु को तथा शुक्र आर्तव गर्भ को नीचे और बाहर लाने वाला अपान वायु कहलाता है।[234]

शार्ङ्गधर ने अपान वायु का स्थान मलाशय कहा है तथा शार्ङ्गधर की दीपिका टीका में इसके लिए गुद प्रदेश शब्द का प्रयोग किया गया है।[235] गुद क्षेत्र में रहते हुए इस वायु का कार्यक्षेत्र नाभि से नीचे जाँघों तक का भाग माना है। इस भाग में गुदाद्वार, मूत्रद्वार व योनिद्वार आ जाते हैं जो कि मल-मूत्र व अन्य स्रावों को शरीर से बाहर विसर्जित करते रहते हैं। उपरोक्त मलों के विसर्जन में

पुरीष को वृहदान्त्र का अवरोही भाग संकोच क्रिया द्वारा बाहर जाने की प्रेरणा देता है, इसी प्रकार मूत्र विसर्जन की क्रिया में मूत्राशय की मुखपेशी मूत्र के दबाव के कारण शिथिल होकर तथा मूत्राशय संकुचित होकर मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकाल देती है। यह कार्य वातनाड़ियों(सिम्पेथिटिक और पैरासिम्पेथिटिक नर्वस) द्वारा नियन्त्रित होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पुरीष, मूत्र, आर्तव, वीर्य, गर्भनिष्क्रमण आदि के धारण व क्रियायें जो सम्पन्न होती हैं वे सभी अपान वायु की प्रेरणा से ही सम्पन्न होती हैं।

अन्य संहिताग्रन्थों में अपान वायु के सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है।

चरक के अनुसार अपान वायु मूत्राशय, गर्भाशय, गुदा और आँतों में स्थित रहकर क्रमशः मूत्र, गर्भ और मल का धारण व निष्कासन करता है।[236]

सुश्रुत ने अपान वायु का स्थान पक्वाधान कहा है। यह पुरीष, मूत्र, शुक्र, गर्भ तथा आर्तव को समयानुसार धारण करता है और वेगकाल में इनका निष्कासन करता है।[237]

वाग्भट्ट की मान्यता है कि अपान वायु अपान प्रदेश अर्थात् कटि प्रदेश के निम्न भाग में स्थित है। यह इस प्रदेश में विचरण करता हुआ मल-मूत्र-शुक्र-आर्तव और गर्भ के निष्क्रमण के समय होने वाली चेष्टाओं को कराता है और अवेगकाल में इनको यथास्थान रखता है।[238]

भेलसंहिता में भी अपान वायु का स्थान गुद प्रदेश ही माना है।[239]

योगचिन्तामणि के अनुसार प्राण और अपान वायु दोनों की परस्परापेक्षी हैं। ये एक-दूसरे से आकर्षण द्वारा आपस में अबद्ध रहते हैं।[240]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने अपानवायु का कार्यक्षेत्र गुद प्रदेश माना है और यह मल-मूत्र अन्य स्रावों को विसर्जन करने का कार्य करता है। सभी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती आचार्य इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

प्राकृत पित्त

पित्त शब्द 'तप सन्तापे' धातु से निष्पन्न होता है। पित्त का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि 'आग्नेयं पित्तं'[241] अर्थात् पित्त आग्नेय या अग्निधर्मा होता है। पित्त का मूल कार्य अग्निकर्म है। हमारे शरीर में विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ अपने-अपने स्थानों में कार्य करती रहती हैं और परिणामरूप में आहार रस से प्रसाद-भाग और मलभाग का निर्माण करती रहती हैं। इनमें से मुख्य पाचकाग्नि और धात्वाग्नियाँ हैं।

पित्त हमारे शरीर में ठीक उसी प्रकार अग्नि का आधार द्रव्य है, जिस

प्रकार इस संसार में अग्नि लकड़ी, कोयला आदि का आश्रय लेकर रहती है। पित्त से प्रदीप्त अग्नियाँ आहारद्रव्य एवं सप्त धातु आदि को परिणमित करती रहती हैं।

यद्यपि हमारा शरीर एवं आहार दोनों ही पाँचभौतिक हैं परन्तु जो आहार हम ग्रहण करते हैं, वह उसी रूप में शरीर के लिए उपयोग नहीं होता है। इस पाँचभौतिक आहार पर पाचकाग्नि की क्रिया होने पर ही वह आहार शरीर का पोषण करने योग्य होता है अन्यथा वह भी रोग का हेतु बन जाता है।

अग्निकर्म द्वारा ही शरीरस्थ ऊष्मा बनी रहती है, जिसकी उपस्थिति में ही शरीर की सभी क्रियायें सम्पन्न होती हैं। कर्मसाम्य होने के कारण चिकित्सा की दृष्टि से पित्त एवं अग्नि में कोई अन्तर नहीं माना जाता है परन्तु विवेचना की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। पित्त तो द्रव्य है और अग्नि उसका गुण है। पित्त और अग्नि का आधार आधेय का सम्बन्ध है। अग्नि आधेय है और पित्त आधार पित्त के आश्रित होकर ही अग्नि शरीर में स्थित रहती है।

पित्त या अग्नि द्वारा सप्तधातुओं की उत्पत्ति

शार्ङ्गधर ने सप्तधातुओं की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहा है कि रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ क्रमशः पूर्व-पूर्व से शरीर की अग्नि (पित्त) से पकाये जाकर तैयार होती हैं। अन्न का जो रस बनता है, वह पित्त की गरमी से पाक होकर रक्त बनता है। रक्त का क्रमशः पाक का शुक्र बनता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के अनुग्रह से ये सप्त धातुएँ उत्पन्न होती हैं। ये सभी धातुएँ जिस अग्नि द्वारा उत्पन्न होती है, उन्हें धात्वाग्नि के नाम से जाना जाता है।[242]

पित्त के ताप द्वारा रस धातु से रक्त का निर्माण एवं उससे आर्तव का निर्माण

शार्ङ्गधर के अनुसार रसादि धातुएँ पित्त के ताप से पकती हुई क्रमशः एक-दूसरे से बनती हुई एक मास में वीर्य बनती हैं एवं उसी रस से ही रक्तता को प्राप्त होकर स्त्रियों का आर्तव बनता है जो एक-एक मास पर स्रवित होता है।[243]

इस प्रकार पित्त द्वारा आहार पचन, रसरंजन, आलोचन आदि कर्म होते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक सूक्ष्म अग्निद्रव्य रहते हैं जो पाचन कर्म के साथ-साथ ऊष्मा की उत्पत्ति एवं शोषण आदि का कार्य करते हैं। दोष पाचन, धातु पाचन और मल पाचन का भी कार्य करते हैं।

प्राकृत पित्त के गुण एवं स्वरूप

शार्ङ्गधर ने प्राकृत पित्त का वर्णन करते हुए कहा है कि पित्त, उष्ण-द्रव-नील-पीत और सत्वगुण प्रधान है। इसे कटु और तिक्त रसयुक्त समझना चाहिए।[244]

उपरोक्त पित्त के विवेचन में शार्ङ्गधर ने पित्त के सूक्ष्म गुण जैसे सत्व व उष्ण कटु व तिक्तरस एवं स्थूलरूप द्रव-नील-पीत रंग वाला बतलाया है। शार्ङ्गधरोक्त पित्त के गुणों का विवेचन निम्न प्रकार है।

उष्ण : पित्त आग्नेय है अतः पित्त का मुख्य गुण उष्ण ही है। उष्ण गुण के कारण ही शरीर में ताप की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण शरीर में आहार-पाक एवं धातुपाक की क्रियायें एवं अनेक प्रकार के भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होते हैं। इसी से त्वचा की कान्ति, नेत्रों में ज्योति और मस्तिष्क की क्रियाशीलता भी ठीक बनी रहती है और हथेली, नख एवं ओष्ठ आदि अंगों पर लालिमा प्रकट होती है। यदि पित्तवर्धक आहार का अधिक मात्रा में सेवन किया जाए तो शरीर में उष्णता बढ़ जाती है। इसका ज्ञान हम स्पर्श द्वारा करते हैं।

द्रव : शार्ङ्गधर ने पित्त का दूसरा गुण द्रव कहा है, उसी द्रवता के कारण पित्त द्रव रूप में दिखाई पड़ता है, यह पित्त में द्रवता जल महाभूत के कारण होती है। पित्त में आग्नेय गुण भी होता है। इस प्रकार पित्त में अग्नि और जल परस्पर विरोधी महाभूतों के गुणों की विद्यमानता है। पित्त में आग्नेय गुण दीपन पाचन औषधियों के द्वारा बढ़ने पर पाचकाग्नि तीव्र होती है और जब इसमें जलमहाभूत अंश बढ़ जाता है तब मन्दाग्नि होती है क्योंकि गरम जल अग्नि का धर्म धारण करके भी अग्नि को बुझा देता है। रक्तपित्त रोग में रक्त की मात्रा-वृद्धिपित्त में द्रव गुण के अधिक बढ़ जाने से हो जाती है। वमन के उपरान्त जो पित्त आमाशय से मलरूप में निकलता है, उसमें द्रवता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस गुण के कारण अंग कोमल और त्वचा मृदु रहती है।

नील और पीत : अग्निप्रधान होने से रूपवान् होना इसका भौतिक गुण है। अग्नि ही पृथ्वी तत्व से संयुक्त होकर शरीर में विभिन्न वर्णों के लिए उत्तरदायी है। इसी अग्नि महाभूत के कारण पित्त में नील और पीत गुण पाये जाते हैं। यकृत से निकलने वाला पित्त पीतवर्ण का होता है। आमावस्था में पित्त वर्ण नील होता है और निरामावस्था में पीत होता है। यह रंजन कर्म में सहायक होता है।

सत्व गुण : पित्त आग्नेय होने के कारण सत्वगुण प्रधान होता है। यही कारण है कि पित्त प्रकृति वाले मनुष्यों में सत्व गुण की अधिकता पाई जाती है।

कटुतिक्तरस : शार्ङ्गधर ने पित्त में कटु और तिक्त रस बतलाये हैं। जो कि प्राकृत पित्त के गुण हैं। पित्त जब विकृत अवस्था को प्राप्त होता है तब विदग्ध होकर अम्लता को प्राप्त होता है।[245]

पित्त में कटुरस की उपलब्धि, अग्नि-पृथ्वी महाभूत के संयोग से होती है। कटुरस यकृत् स्रावों में प्राप्त होता है ।

कटु और तिक्त पदार्थों के सेवन से पित्त की वृद्धि होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पित्त में कटु और तिक्त रस पाया जाता है । कटु और तिक्त रस जब विदग्ध होते हैं तब अम्लता को प्राप्त होते हैं ।

चरक सुश्रुत आदि ग्रन्थों में पित्त के गुण एवं स्वरूपों में कुछ भिन्नता पाई जाती है जो कि निम्न प्रकार है :

चरक के अनुसार पित्त किंचित् स्नेहयुक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, प्रसरण-शील और कटु है, इन गुणों के विपरीत गुणों रूक्ष, शीत, मन्द्र, सान्द्र, तिक्त-स्थिर और मधुर गुणों से युक्त द्रव्यों के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त शीघ्र शान्त होता है ।[246]

सुश्रुत ने पित्त के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि पित्त तीक्ष्ण, द्रव, पूति या मांसगन्धी, नील वर्ण (सामावस्था में), पीत वर्ण (निरामावस्था में) उष्ण और कटुरस युक्त है। विदग्ध होने पर अम्ल रस युक्त हो जाता है ।[247] इनका यह मत ही शार्ङ्गधर का प्रेरणास्रोत रहा है।

भेल ने पित्त में कुछ और रसों का भी समावेश किया है। उनके अनुसार पित्त को कटु, अम्ल, लवण रसों से युक्त द्रव्यों के तुल्य समझना चाहिए।[248] अर्थात् कटु और अम्ल के अतिरिक्त लवण गुण भी पित्त में हैं।

काश्यपसंहिता में पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण, अल्प, लघु और अग्नि-प्रधान बताया गया है ।[249]

वाग्भट्ट ने भी पित्त को किंचित्स्नेहयुक्त और तीक्ष्ण उष्ण लघु विस्र सर द्रव गुणरूप कहा है ।[250]

प्राकृत पित्त के कर्म

शार्ङ्गधर ने पित्त के कर्मों का विवेचन करते हुए कहा है कि पाचक पित्त अग्नि-रूप में, तिलपरिमाण में या तिल के समान आकार वाले अंग (अग्न्याशय) से निकलता है और शरीर की त्वचा पर कान्ति प्रकट करने वाला तथा उस पर लगाये गये लेप और मालिश किये पदार्थों को परिपक्व करने वाला यकृत में जो पित्त होता है वह रस को रंजितकर रक्त बनाता है। नेत्रों में जो पित्त होता है, वह देखने की शक्ति देता है । हृदय में जो पित्त रहता है वह मेधा और बुद्धि प्रभृति मानसिक गुणों का करने वाला है ।[251]

शार्ङ्गधर ने उपर्युक्त प्राकृत पित्त के कार्यों में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख किया है। इनमें शारीरिक क्रियाओं के अन्तर्गत

पचन, त्वचा को कान्ति प्रदान करने वाला, रसरंजन, रूपदर्शन और मानसिक क्रियाओं के अन्तर्गत मेधा और बुद्धि प्रश्रृति मानसिक गुणों को करने वाला अर्थात् विचार साधन कर्म मुख्य हैं।

पचन या पक्ति : पित्त का सबसे मुख्य कर्म पाचन है। इस कर्म के द्वारा शरीर द्वारा ग्रहण किए अन्न का परिपाक करके उसे सूक्ष्मरूप में परिवर्तित करके शरीर के योग्य बनाता है। वास्तव में अग्न्याशय, आमाशय-रसों और याकृतपित्त के अनेक पेप्सीन, ट्रिप्सीन, टापलीन, एन्जाइम्स आदि पाचक पित्त के ही रूप हैं। इस पचन कर्म के द्वारा ही आहार द्रव्य, देहपोषक भाग और मल भाग में परिवर्तित होता है।

साथ ही पित्त रस रक्त मांस आदि धातुओं का निर्माण करते हुए मलों को पृथक् करता है। यह पित्त में आग्नेय अंश के द्वारा ही सम्भव हो जाता है।

2. त्वचा कान्तिकर : शार्ङ्गधर ने पित्त का दूसरा कार्य त्वक्संस्थान में अग्निकर्म बतलाया है। इसके परिणामस्वरूप ही त्वचा में कान्ति अर्थात् वर्ण या चमक, मृदुता और कोमलता आती है।

त्वचा में यह कान्ति पित्त जनित है क्योंकि अग्नि में प्रकाश भी होता है शरीर में वही कान्ति के रूप में प्रगट होता है।

इस प्रकार शरीर की त्वचा में स्थित पित्त या अग्नि का परिवर्तित रूप कान्ति कहलाता है।

चरक ने भी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि त्वचा की कान्ति, शारीरिक ताप, पित्त में ये सब अग्नि महाभूत के विविध प्रकार हैं।[252]

3. रसरंजन : शार्ङ्गधर ने पित्त का कार्य रसरंजन भी कहा है।[253] और यह भी स्वीकार किया है कि रस समान वायु की प्रेरणा से हृदय तक पहुँचता है और हृदयस्थ रंजक पित्त रस को रक्त में परिवर्तित कर देता है परन्तु आयुर्विज्ञानवेत्ता इस मान्यता से सहमत नहीं किन्तु इस परस्पर विरोध के प्रसंग में यह कहना अनुचित न होगा कि हृदय की गतियों के द्वारा ही यकृत स्थित एन्टी एनीमिक फेक्टर (Antic Anaemic Factor) रेड-बोन मेरो (Red-Bone Merrow) तक पहुँचाया जाता है। यह कल्पना इससे पुष्ट होती है कि हृदय के कार्य में किसी कारण से बाधा उत्पन्न हो तो रक्त निर्माण कार्य में भी बाधा पहुँचती है। अतः हृदय रसरंजन का कार्य अप्रत्यक्ष रूप में करता है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि पचन कर्म का ही एक भाग रंजनकर्म है। शार्ङ्गधर ने भी एक अन्यत्र स्थल पर कहा है कि रंजन मुख्य रूप से रसधातु का होता है। वह रसरंजन कर्म के द्वारा रक्तरूप में परिणत होता है।[254] इससे स्पष्ट होता है कि रक्त वस्तुतः रंजितरस ही है। रस का यह रंजन कर्म, आमाशय के रंजक पित्त एवं यकृत् रक्ताग्नि (रंजकपित्त) द्वारा सम्पन्न होता

है। पित्त का रंजनकर्म रक्त, त्वचा, केश व नेत्रकनीनिका आदि में भी अनेक रूपों में सम्पन्न होता है।

4. रूप दर्शन : हमारे शरीर में चक्षु इन्द्रिय रूप ग्रहण का कार्य करती है। चक्षु इन्द्रिय पाँचभौतिक होते हुए भी तैजस अंश की प्रधानता होने के कारण रूप ग्रहण के कार्य को सम्पन्न करती है।

वैसे इस पाँचभौतिक शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एक-एक महाभूत के ग्रन्थ को विषय या अर्थरूप में ग्रहण करती हैं। इसमें चक्षु इन्द्रिय अग्नि के गुणरूप को ग्रहण करती है, इसका कारण यह है कि तेज या आग्नेय अंश हमारे शरीर में पित्त द्रव्य के आश्रित रहता है। चक्षु की रचना में आग्नेय उपादान की प्रधानता है और चक्षु इन्द्रिय में पित्त सूक्ष्मरूप में पहुँचकर वहाँ अग्नि कर्म सम्पन्न करता है और रूप दर्शन की क्रिया को सम्पम्न करता है। शार्ङ्गधर ने इसी को आलोचक पित्त कहा है।[255]

5. मेधा एवं प्रज्ञाकर : शार्ङ्गधर ने पित्त का एक कर्म मेधा एवं प्रज्ञाकर भी बताया है।[256] यह कर्म साधक पित्त द्वारा सम्पन्न होता है। चिन्तन, विचार, स्मृति, मेधा, बुद्धि कर्मों के सम्पन्न होने के समय भी मस्तिष्क में एक जीव-रसायन कर्म (अग्निकर्म) हुआ करता है। उपरोक्त सभी कर्म पित्त और अग्नि का मूल आधार सत्व गुण के परिणामस्वरूप होता है क्योंकि पित्त सत्व गुण प्रधान होता है।[257]

अन्य संहिताग्रन्थों में प्राकृत पित्त के कर्म एवं उनकी विशेषताएँ इस प्रकार कही गई हैं।

चरक संहिता के अनुसार रूपदर्शन, पचन, ऊष्माजनन, क्षुधा, पिपासा, देह में कोमलता और कान्ति का उत्पादन, देह-इन्द्रिय-मन को निर्मल करना, बौद्धिक कार्य सम्पन्न करना, ये सब कर्म प्राकृत पित्त के कार्य हैं।[258]

सुश्रुत के अनुसार प्राकृत पित्त रसरंजन-पचन-रूपदर्शन-मेधाजनन और ऊष्माजनन के कर्म करता है। यह इन कर्मों के कारण क्रमशः रंजन, पाचक, आलोचक, साधक और भ्राजक पित्त इन पाँच प्रकारों में विभक्त होकर, देह को अग्निकर्म द्वारा अनुग्रहीत करता है।[259]

वाग्भट्ट के अनुसार प्राकृत पित्त पचन-ऊष्माजनन-रूपदर्शन और क्षुधा-पिपासा-रुचि कान्ति-मेघा बुद्धि-शौर्य एवं देहमार्दवजनन कर्मों के द्वारा शरीर को लाभान्वित करता है।[260]

प्राकृत पित्त के स्थान

यद्यपि प्राकृत वात के समान प्राकृत पित्त भी सर्वांगव्यापी है फिर भी इसके कुछ विशिष्ट स्थान हैं।

शार्ङ्गधर ने पित्त के स्थानों के अन्तर्गत अग्न्याशय, यकृत, नेत्र, त्वचा और हृदय को ग्रहण किया है।[261] इन अवयवों में से अग्न्याशय और यकृत् से तो स्पष्ट रूप से पैत्तिक स्राव या आग्नेय स्राव परिस्रुत होते हैं, हृदय भी पित्त को सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाने का कार्य करता है। इसलिए शार्ङ्गधर ने पित्त के उपरोक्त जो स्थान बतलाये हैं उनको वस्तुतः पित्तस्रोत समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त नेत्र और त्वचा के द्वारा रूपदर्शन और त्वक्भ्राजन की क्रियाएँ या अग्निकर्म सम्पन्न होते हैं। इन स्थानों पर क्रमशः आलोचक और भ्राजक पित्त की स्थिति है, इसी प्रकार हृदय में साधक पित्त की स्थिति होती है।

शार्ङ्गधर ने पित्त को आश्रय स्थल के रूप में रक्त को भी माना है।[262]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने पित्त स्थानों में तीन प्रकार के नामों का उल्लेख किया है। इनमें पहले प्रकार के अग्न्याशय, यकृत् हैं जो पित्त के स्रोत हैं। दूसरे प्रकार के नेत्र, त्वचा एवं हृदय हैं ये पैत्तिक क्रियाओं के विशिष्ट स्थल हैं। तीसरे प्रकार का रक्त यह पित्त का आश्रयस्थल है।

अन्य संहिताग्रन्थों में पित्त के स्थान निम्न प्रकार बताये हैं। चरक ने पित्त के स्थान स्वेद, रस, लसीका, रुधिर, आमाशय कहे हैं, इनमें से विशेष रूप से आमाशय को पित्त का स्थान माना है।[263]

वाग्भट्ट के अनुसार नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रुधिर, नेत्र और त्वचा पित्त के स्थान हैं, इनमें नाभि विशेष पित्त का स्थान है।[264]

सुश्रुत ने श्रोणि और गुदा के ऊपर तथा नाभि से नीचे के भाग में पक्वाशय माना है। पक्वाशय और आमाशय के मध्यवर्ती भाग में पित्त का स्थान है। अन्य स्थानों के अन्तर्गत यकृत्, प्लीहा, हृदय, नेत्र, त्वक् बताये हैं।[265]

काश्यपसंहिता के अनुसार आमाशय, स्वेद और लसिका सहित रक्त ये पित्त के स्थान हैं।[266]

प्राकृत पित्त के भेद

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाला पित्त यद्यपि एक ही प्रकार का है परन्तु शरीर के भिन्न-भिन्न पाँच स्थानों में पाचन, रसरंजन, विचारसाधन, आलोचन और रूपदर्शन कर्मकरने के कारण शार्ङ्गधर ने इनको पाँच भागों में बाँटा है।

इनके अनुसार पित्त के क्रमशः कार्यानुसारी पाँच नाम हैं। पाचक, भ्राजक, रंजक, आलोचक और साधक।[267]

अन्य संहिताग्रन्थों में भी पित्त के पाँच ही भेद मिलते हैं। सुश्रुत का कथन है कि रागकृत्, पक्तिकृत, तेजःकृत्, मेधाकृत् और ऊष्मकृत् इन ऐसे पाँच प्रकारों में विभक्त हुआ प्राकृत पित्त, अग्निकर्मों के द्वारा देह को लाभान्वित करता है।[268]

वाग्भट्ट ने भी पाँच ही भेद किए हैं। उनके अनुसार पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक भेद हैं।269

पित्त ... क्योंकि यदि पाचक ... साधक आदि सबल ... अन्यों पर भी इसका ... कह सकते हैं कि पा...

प... नेय अंश की प्रबलता ... यह द्रवरूप अर्थात् ... है।

पा... में जो पित्त होता है, ... लोन्मित है अर्थात् ... क्ष्म मात्रा में परिश्रुत ...

शा... को स्वीकार किया है ... माशय का अम्लीय ... ते हैं। इन सभी स्राव ... ने इसकी महत्ता स्व...

यह ... श्रुत होता है और ग्रह... का अन्तः-स्राव भी ... याशय के अन्तःस्राव ... इन्सुलिन कहते हैं। ... पधातुओं तक पहुँचत... ना शरीर में ऊष्मा ए... प्राप्त कराता है। इस प्रकार से यह अग्न्याशय का सूक्ष्म-स्राव पाक कर्म करता हुआ धात्वाग्नि का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार अग्न्याशय के वहिः एवं अन्तःस्राव उपरोक्त आहारपाक और धातुपाक दो प्रकार के पचन कर्म सम्पन्न करता है इसीलिए शार्ङ्गधर ने पाचक पित्त के अन्तर्गत मुख्यतः अग्न्याशय का ही उल्लेख किया है।

शार्ङ्गधर ने पाचक पित्त का घटक रूप अन्य स्राव याकृत स्राव बतलाया है,

शार्ङ्गधर ने पित्त के स्थानों के अन्तर्गत अग्न्याशय, यकृत, नेत्र, त्वचा और हृदय को ग्रहण किया है।[261] इन अवयवों में से अग्न्याशय और यकृत् से तो स्पष्ट रू... पित्त को सम्पूर्ण श... के उप-रोक्त जो...

इस... भ्राजन की क्रियाएँ ... चक और भ्राजक ... होती है।

शा... ।[262]

इस... र के नामों का उल्ले... त के स्रोत हैं। दूसरे ... शिष्ट स्थल हैं। तीस...

अ... ने पित्त के स्थान ... आमाशय को पित्त...

वा... और त्वचा पित्त के ...

सु... में पक्वाशय माना है ... है। अन्य स्थानों ...

क... क्त ये पित्त के स्था...

सम्पूर्ण ... परन्तु शरीर के भिन्न ... न और रूप-दर्शन क...

इनके अनुसार पित्त के क्रमशः कार्यानुसारी पाँच नाम हैं। पाचक, भ्राजक, रंजक, आलोचक और साधक।[267]

अन्य संहिताग्रन्थों में भी पित्त के पाँच ही भेद मिलते हैं। सुश्रुत का कथन है कि रागकृत्, पक्तिकृत, तेजःकृत्, मेधाकृत् और ऊष्मकृत् इन ऐसे पाँच प्रकारों में विभक्त हुआ प्राकृत पित्त, अग्निकर्मों के द्वारा देह को लाभान्वित करता है।[268]

वाग्भट्ट ने भी पाँच ही भेद किए हैं। उनके अनुसार पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक भेद हैं।[269]

पाचक पित्त

पित्त के पाँचों भेदों में से पाचक पित्त को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है क्योंकि यदि पाचक पित्त या पाचकाग्नि सबल है तो पित्त के अन्य भेद रंजक, साधक आदि सबल बने रहते हैं और यदि पाचक पित्त निर्बल हो जाता है तो अन्यों पर भी इसका प्रभाव पड़कर वे भी निर्बल हो जाते हैं। इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि पाचक पित्त ही इन सबका आधार है।

पाचक पित्त संघटन की दृष्टि से पाँचभौतिक है परन्तु इसमें आग्नेय अंश की प्रबलता होती है इसीलिए इसको अग्नि या पाचकाग्नि भी कहते हैं। यह द्रवरूप अर्थात् तरल होता है परन्तु तरल रूप में होते हुए भी प्रकृति से आग्नेय है।

पाचक पित्त के विषय में शार्ङ्गधर का कहना है कि अग्न्याशय में जो पित्त होता है, वह अग्नि जैसे लक्षणों वाला होता है। यह अग्निरूपी पित्त तिलोन्मित है अर्थात् तिल बराबर आकार वाले अंग से परिश्रुत हुआ करता है या सूक्ष्म मात्रा में परिश्रुत होता है इसका नाम पाचक है।[270]

शार्ङ्गधर ने पाचक पित्त का उद्गम स्थल मुख्य रूप से अग्न्याशय को स्वीकार किया है। वैसे पित्त के स्थानों में यकृत् को भी माना है। पाचन में आमाशय का अम्लीय स्राव, यकृतस्राव और पित्त धराकला के स्राव भी सहायक होते हैं। इन सभी स्रावों में अग्न्याशय का स्राव अधिक आग्नेय होता है अतः शार्ङ्गधर ने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए इसे वीर्यवान् एवं महत्वपूर्ण माना है।

यह पित्त अग्न्याशय नामक ग्रन्थि से अग्न्याशय नलिका द्वारा परिस्रुत होता है और ग्रहणी के भीतर तिल बराबर एक सूक्ष्म छिद्र में गिरता है। इसका अन्तः-स्राव भी होता है उसकी भी सूक्ष्म मात्रा होती है अतः तिलोन्मित से अग्न्याशय के अन्तःस्राव का भी ग्रहण कर सकते हैं जिसे आधुनिक चिकित्सा शास्त्री इन्सुलिन कहते हैं। यह अग्न्याशय से प्रादुर्भूत होकर भीतर ही भीतर धातु और उपधातुओं तक पहुँचता है और उनमें स्थित पार्थिवांश द्राक्षाशर्कश का दहन करता हुआ शरीर में ऊष्मा एवं ऊर्जा की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार से यह अग्न्याशय का सूक्ष्म-स्राव पाक कर्म करता हुआ धात्वाग्नि का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार अग्न्याशय के वहिः एवं अन्तःस्राव उपरोक्त आहारपाक और धातुपाक दो प्रकार के पचन कर्म सम्पन्न करता है इसीलिए शार्ङ्गधर ने पाचक पित्त के अन्तर्गत मुख्यतः अग्न्याशय का ही उल्लेख किया है।

शार्ङ्गधर ने पाचक पित्त का घटक रूप अन्य स्राव याकृत स्राव बतलाया है,

यह पीतवर्ण द्रव्य है यह भोजन के स्नेह भाग को पचाने में सहायक होता है।[271]

पाचक पित्त का अन्य घटक पित्तधराकला का स्राव है, जिसका शार्ङ्गधर ने अग्निधरा कला के नाम से उल्लेख किया है।[272] यह पचन क्रिया को तेज करता है यह प्रक्रिया उस समय होती है जब अन्न आमाशय से निकलकर पक्वाशय की ओर आता है। उस समय पित्त के तेज से अन्य का पचन एवं शोषण होता है तथा पक्व होने पर आगे भेज देती है। यहाँ पर अग्निधरा कला या पित्तधरा कला से आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में स्वीकृत Mucous Membrane (म्यूकस मेमब्रेन) का ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि पित्तधरा के जो कार्य हैं वही लगभग इस मेमब्रेन के भी स्वीकार किये गये हैं।

पाचक पित्त भोजन का पचन करता है आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार आन्त्र नाल में स्थित सभी पाचक स्राव तथा उनके एन्जाइम्स पाचक पित्त की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। भोजन के विभिन्न भागों वसादि का पाक यह पाचक पित्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाचक पित्त के अन्तर्गत मुख्य रूप से अग्न्याशय-स्राव का ग्रहण किया जाता है यद्यपि इसके साथ कुछ अन्य स्रावों का भी ग्रहण करते हैं।

सुश्रुत ने पाचक पित्त को पाचकाग्नि के नाम से पुकारा है। और कहा है कि पक्वाशय आमाशय के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित जो पित्त एक अदृष्ट और विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों को पचाता है, जो दोष रस, मूत्र, पुरीष को अलग-अलग करता है जो वहीं अपने क्षेत्र में रहता हुआ—अपनी शक्ति से अवशिष्ट पित्त स्थानों को सामर्थ्य प्रदान करता है और अग्निकर्म के द्वारा समस्त शरीर को लाभान्वित करता है।[273]

वाग्भट्ट की मान्यता है कि पाचक पित्त पाँच प्रकार का है। इनमें से पक्वाशय व आमाशय के बीच में जो पित्त है वह पाँचभौतिक होने पर भी आग्नेय गुण की प्रधानता के कारण द्रवता को दूर कर देने की विशेषता रखता है। इसके साथ ही पचन की क्रियाएँ करने के कारण इसे पाचकाग्नि नाम दिया गया है।

इस प्रकार पाचकाग्नि रूप जो पित्त अन्न को पचाता है पाक के उपरान्त सार-भाग व मल भाग को पृथक् कर देता है तथा अपने क्षेत्र में रहता हुआ ही अन्य पित्त के भेदों रंजक आदि को शक्ति पहुँचाते हुए उनकी सहायता करता है।[274]

भ्राजक पित्त

शार्ङ्गधर ने भ्राजक पित्त का स्थान त्वचा कहा है। उसका कार्य त्वचा में कान्ति उत्पन्न करना और लेप अभ्यंग आदि में प्रयुक्त औषध द्रव्यों का पचन करना होता

है ।[275]

भ्राजक पित्त ही त्वचा में कान्ति उत्पन्न करता है । चरक ने शरीर कान्ति को प्रभा कहा है सभी प्रभाएं (कान्ति) तेज या पित्त से उत्पन्न होती हैं ।[276] उनके अनुसार मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से कृष्ण, गौर, श्यामल और श्यामगौर वर्ण होते हैं । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं नील, ताम्र, हरित तथा श्याव और शुक्ल अस्वाभाविक वर्ण भी होते हैं ।[277] वर्ण प्रभा (शरीर कान्ति) और छाया से युक्त होता है । छाया वर्ण को तिरोहित करती है और शरीर कान्ति वर्ण को प्रकाशित करती है । चरक के अनुसार शरीर कान्ति या प्रभा सात प्रकार की स्वीकार की गयी है । (1) रक्त, (2) पीता, (3) श्वेता, (4) श्यामा, (5) हरिता, (6) पाण्डुर, (7) असिता (काली) ।[278]

सुश्रुत ने छाया और प्रभा में भेद करते हुए कहा है कि छाया पास से दिखायी पड़ती है जबकि प्रभा दूर से झलक जाती है । छाया शरीर के रंग को दबाती है किन्तु प्रभा उस रंग को प्रगट करती हैं ।[279]

चरक ने भी छाया और प्रभा में अन्तर बताते हुए कहा है कि छाया वर्ण को आच्छादित करती है, प्रभा वर्ण को प्रकाशित करने वाली होती है । छाया समीप से दिखायी पड़ती है और प्रभा दूर से ही चमकती दिखायी पड़ती है । कोई भी पुरुष छाया और प्रभा से अलग नहीं होता है । मनुष्य की विशेषताओं को छाया और प्रभा ही स्पष्ट रूप से प्रगट करती हैं ।[280]

शरीर की यह कान्ति त्वचागत भ्राजक पित्त द्वारा अग्नि कर्म के परिणामस्वरूप होती है । भ्राजक पित्त तैजस होने के कारण शरीर कान्ति की वृद्धि करता है । इसीलिए शरीर कान्ति भी आग्नेय है । प्रभा का रंग भास्वर शुक्ल कहा गया है । इस भास्वर शुक्ल में सूर्य की किरणों की भाँति सातों रंग पाये जाते हैं । यह स्पष्ट है कि जो पदार्थ इन रंगों को आत्मसात नहीं कर पाते वे उनको पुनः प्रत्यावर्तित कर देते हैं । त्वचा में स्थित भ्राजक पित्त तैजस होता है अतः उस पर सभी रंग प्रत्यावर्तित होते हैं । इसी कारण त्वचा में चमक उत्पन्न होती है । जब इस चमक के साथ शरीर के रंगों का संयोग हो जाता है तब उसे शरीर कान्ति कहते हैं ।

यह पहले कहा जा चुका है कि भ्राजक पित्त का दूसरा कार्य लेप अभ्यंग आदि में प्रयुक्त औषध द्रव्यों का पाचन करना है । चिकित्सा शास्त्र के अनुसार अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन, अवलेपन ये क्रियाएँ हैं ।

शरीर की त्वचा पर विभिन्न तेलों का अभ्यंग एवं औषध लेपों का प्रयोग किया जाता है । त्वचा पर जो तेलाभ्यंग किया जाता है, उनका स्नेहांश शरीर के भीतर आचूषित होता है । शरीर के आभ्यान्तर भागों में औषधियों के प्रभाव को पहुँचाने के लिए औषध क्वाथ या क्षीरतेल आदि की धाराएँ त्वचा पर छोड़ी जाती हैं उसे

परिषेक कहते हैं। अवगाहन क्रिया के अन्तर्गत दुग्ध, कषाय या तेल से भरे टब में रोगी को बिठाते हैं, जिसे त्वचा के माध्यम से उन औषधियों को शरीर के अन्दर पहुँचाते हैं। अवलेपन क्रिया द्वारा त्वचा पर विभिन्न प्रकार के लेप जो कि वेदनाहर, शोथहर, शीतहर आदि होते हैं जिनसे शरीर में विभिन्न क्रियाएँ जैसे—त्वचा पर कान्ति उत्पन्न करना, देह की उचित ऊष्मा का रहना, त्वचा में मृदुता और स्निग्धता बनी रहती है। इनका चिकित्सा में महत्वपूर्ण उपयोग होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार अभ्यंग आदि के द्वारा त्वचा में जो स्नेहांश पहुँचता है। उन द्रव्यों का पाक त्वक्गत ऊष्मा (Intercallular oxidation) अंतःकोषीय एन्जाइम एवं (Inter Cellular enzymes) के द्वारा सम्पन्न होती है।

त्वचा में स्थित स्वेदग्रन्थियाँ व तेलग्रन्थियाँ भी भ्राजक पित्त के स्थान हैं क्योंकि ये अवयव भी त्वचा में स्थित हैं। अतः इनके कार्यों का नियन्त्रण भ्राजक पित्त द्वारा ही होता है। त्वचा की स्नेहग्रन्थियों से निकलने वाले स्नेह पदार्थ (Sebum) में स्थित रंजक वस्तु (Pigments of Epidermis & Mucosum) भ्राजक पित्त ही हैं। इसी से त्वचा का रंजन होकर अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं। इसी को शार्ङ्गधर ने 'त्वचि कान्तिकर' कहा है।

सुश्रुत के अनुसार जो पित्त त्वचा में होता है, उसका 'भ्राजक अग्नि' नाम है, वह मर्दन, सेचन, अवगाहन, लेपन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का परिपाक करता है और देह की कान्ति का प्रकाशक है।[281]

वाग्भट्ट ने भी प्रायः उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है, उनके अनुसार त्वचा में स्थित पित्त, त्वचा का भ्राजन कर्म करने से भ्राजक है। यह पित्त मर्दन, सेचन, लेपन इत्यादि क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का पचन करता है और छायाओं को प्रकाशित करता है।[282]

शार्ङ्गधर के अनुसार भी शरीर की त्वचा में अग्निकर्म का एक विशिष्ट क्षेत्र है। इस त्वचा में क्रियाशील रहने वाली देहाग्नि को भ्राजक पित्त या भ्राजकाग्नि कहा जाता है। उनकी मान्यता है कि त्वचा में रासायनिक क्रिया (अग्नि कर्म) द्वारा इसके रंग और कान्ति को स्वाभाविक रूप में बनाये रखता है। इसी से शरीर में ऊष्मा बनी रहती है। मालिश, लेप, औषध-स्नान और सेंक द्वारा जो स्नेह द्रव्य या औषधियाँ शरीर में पहुंचती हैं, उनका यह पचन करता है जिससे वे शरीरानुकूल हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप उन द्रव्यों का शरीर पर एक विशेष प्रभाव होता है, जिसका हम चिकित्सा में प्रत्यक्ष प्रभाव देखते हैं।

रंजक पित्त

शार्ङ्गधर के अनुसार यकृत के भीतर जो पित्त दृष्टिगोचर होता है, उसे रंजक पित्त कहते हैं। वह रस को रक्त में परिणत करता है।[283] उनके अनुसार यकृत् रंजक पित्त का स्थान और वही रक्त का आश्रय-स्थल है।[284]

रस धातु किस प्रकार रंजक पित्त द्वारा रंजित व पाचित होकर रक्तत्व को प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया के विषय में शार्ङ्गधर ने कहा है कि रस धातु समान वायु से प्रेरित होकर हृदय को जाता है फिर वही पित्त के द्वारा रंजित और पाचित होकर रक्त वर्ण को प्राप्त करता है, इसके बाद उसे रस न कहकर रक्त कहते हैं।[285]

इस प्रकार शार्ङ्गधर ने स्पष्ट किया है कि यकृत् से होने वाले पित्तस्राव के द्वारा रक्तोत्पादन होता है। यही पित्तस्राव रक्त के रंजक द्रव्य में बदल जाता है।

शार्ङ्गधर ने प्लीहा को भी रक्तवाही शिराओं का मूल कहा है क्योंकि प्लीहा रक्त को एकत्रित किए रहता है। जब शरीर के अन्य भागों को आवश्यकता होती है तब पहुँचा देता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्लीहा भी रक्त धातु से सम्बन्धित है।[286]

आयुर्वेद का सर्वमान्य मत यह है कि रंजक पित्त रसरंजन का कार्य करता है। यह क्रिया रासायनिक क्रिया या अग्निकर्म के रूप में होती है, इस प्रकार नहीं, जिस प्रकार से किसी वस्त्र को रंग से रँगा जाता है।

रस धातु के रंजन का तात्पर्य यह है कि किसी रंजन द्रव्य की उत्पत्ति करना। रंजक द्रव्य की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि उसके सहारे R. B. C. (लाल-रक्त-कण) सम्पूर्ण शरीर में पहुँच सकें। यही रंजक पित्त का कार्य है कि वह रस धातु को रक्त में परिवर्तित करने के लिए रंजक द्रव्य को प्रस्तुत करे।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार गर्भस्थ शिशु में यकृत् और प्लीहा रसरंजन का कार्य करती हैं अर्थात् रक्तकणों के निर्माण का कार्य यकृत् प्लीहा में ही सम्पन्न होता है। कुछ व्यक्तियों के तो जन्म के बाद भी प्लीहा रक्त की उत्पत्ति का कार्य करती रहती है। वैसे युवा शरीर में यकृत् प्लीहा के अतिरिक्त मुख्य रूप से अस्थियों के बीच में स्थित अस्थि मज्जा के भीतर लोहित उत्पन्न होने लगता है परन्तु यकृत् प्लीहा, रुधिर निर्माण के अधिक महत्वपूर्ण केन्द्र हैं क्योंकि यकृत् का पित्त स्राव न मिले तो अस्थिमज्जा में रक्त निर्माण कार्य बन्द हो जाता है और अस्थिमज्जा के रुग्ण होने पर पुनः यकृत् को ही युवा शरीर में भी यही कार्य करना पड़ता है। यकृत् एन्टी एनीमिक फेक्टर (Antic Anaemic factor) के संग्रहस्थल के रूप में कार्य करता है तथा Rad Bone Mirrow (लोहित अस्थिमज्जा) इसी एन्टी एनीमिक फेक्टर द्वारा रक्त निर्माण का कार्य करती है। इस प्रकार जन्म के उपरान्त यकृत् रक्त की उत्पत्ति का कार्य तो नहीं करता परन्तु

रक्त की उत्पत्ति में सहायता करता है। प्लीहा एक रक्त-संग्रह-स्थल (Blood Depo) होकर कुछ विषों के निवर्तक रूप में कार्य करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर यकृत्-प्लीहा इन दोनों के स्रावों से रंजक द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं। वे रसरंजन की प्रक्रिया का स्थान यकृत् और प्लीहा दोनों को मानते हैं। उनके अनुसार इन दोनों का पित्त स्राव ही रंजक पित्त है तथा इन्होंने अग्निकर्मा द्रव्य और उपादान द्रव्य दोनों को ही एक रूप माना है।

शार्ङ्गधर ने अपनी मान्यता का मूल चरक सुश्रुत में प्राप्त किया। उनके अनुसार जो पित्त यकृत् और प्लीहा में है, उसका नाम 'रंजक' अग्नि है, वह रस का रंजक करता है।[287]

वाग्भट्ट के अनुसार आमाशय में स्थित पित्त रस का रंजन करने से रंजक पित्त है।[288]

आलोचक पित्त

शार्ङ्गधर के अनुसार आलोचक पित्त दोनों नेत्रों में रहता है। वह रूप का दर्शन कराता है इसीलिए उसका काम आलोचक पित्त है।[289]

वाग्भट्ट की भी यही मान्यता है। उस प्रसंग में वे कहते हैं कि दृष्टि में स्थित पित्त से वस्तुओं के रूप का ज्ञान होता है। नेत्रों की रूप ग्रहण-शक्ति उसके अधीन है।[290]

दृष्टि को टीकाकार इन्दु ने अन्तःतारक भी कहा है।[291] इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर ने आलोचक पित्त का स्थान नेत्रयुगल कहा है, वहीं वाग्भट्ट ने दृष्टि या अन्तःतारक कहा है। यह अन्तःतारक नेत्र के भीतरी भाग के सबसे पीछे का अन्तिम पटल है, जिसे रेटिना (दृष्टिपटल) कहते हैं। यह दृष्टिपटल नेत्रगोलक का सबसे महत्वपूर्ण स्तर होता है। यह दृष्टिनाड़ी के सूत्रों से बना होता है। जब प्रकाशयुक्त वस्तुओं की किरणें नेत्रगोलक के अन्य माध्यमों से निकलती हुई अन्त में दृष्टिपटल पर पड़ती हैं तो इससे यहाँ पर एक विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया (अग्निकर्म) होती है। जिसके परिणामतः वहाँ पर वस्तु का प्रतिबिम्ब बनता है, इसका संवेदन दृष्टिनाड़ी द्वारा मस्तिष्क को पहुंचता है और व्यक्ति को किसी वस्तु के रूप का ज्ञान होता है। इस वस्तु के प्रतिबिम्ब का निर्माण कार्य होते समय एक विशिष्ट ताप या प्रकाश रहता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार पित्त के विषय में विचार करने पर आलोचक पित्त का स्थान दृष्टि कहा जा सकता है, जो उसे दृष्टिपटल या रेटिना (Retina) कहते हैं। रेटिना या दृष्टिपटल नील-लोहित वर्ण का होता है इसके दस

स्तर होते हैं। जिनमें लेयर आफ रॉड्स एण्ड कोन्स (Layr of Rods & Cones) विशेष महत्वपूर्ण हैं। जब प्रकाश की किरणें कन्जक्टाइवा (Conjuctaiva) आदि अन्य स्तरों से होती हुई Retina पर पड़ता है, इसको रेटिना ग्रहण करता है तथा इसके साथ ही विभिन्न वर्णों को भी ग्रहण करता है। रॉड्स (Rods) के अन्दर रोडोप्सीन (Rodopsin & Visual Purpal Colour) नामक रंजक द्रव्य (Pigments) होता है। जब प्रकाश की किरणें उस पर पड़ती हैं तो यह विजुअल यलो (Visual Yellow) या जेनथोपसीन (Xanthopsin) में बदल जाता है। वर्ण परिवर्तन की इस क्रिया का आभास ऑपटिक नर्वर (Optic Nerver) द्वारा मस्तिष्क स्थित दृष्टिकेन्द्र को पहुँचता है। तब रूप का ज्ञान होता है। विजुअल यलो (Visual Yellow) का परिवर्तन पुनः विशुअल परपल (Visual Purple) में हो जाता है। इस परिवर्तन के लिए विटामिन ए (Vitamin A) की आवश्यकता पड़ती है।

इसी प्रकार Cones में भी इन्डोपसिन (Indopsin) या विजुअल वायलेट (Visual Vaylet) होता है। इसका कार्य भी वर्णों का प्रकाश है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रोड्स और कोन्स (Rods and Cones) में स्थित पिगमेन्ट्स (Rodopsin and Indopsin) आलोचक पित्त हैं।

इसीलिए शार्ङ्गधर ने जो आलोचक पित्त का स्थान तेज कहा है तथा कार्य रूपदर्शन कहा है; वह उचित ही है।

सुश्रुत के अनुसार पित्त दृष्टि में है, उसका नाम आलोचक अग्नि है। रूप का ग्रहण कराना इसके अधीन है।[292]

साधक पित्त

साधक पित्त हृदय स्थित रहता है और मेधा तथा प्रज्ञाकारक होता है।[293]

शार्ङ्गधर ने इस पित्त का स्थान हृदय कहा है क्योंकि हृदय में भी एक विशिष्ट प्रकार का अग्निकर्म सम्पन्न होता रहता है। जिस प्रकार का पाचन संस्थान में अग्निकर्म सम्पन्न होता है।

आयुर्वेद के संहिताग्रन्थों ने हृदय में वात, पित्त और कफ इन तीनों की ही स्थिति स्वीकार की है। शार्ङ्गधर ने वात और पित्त की स्थिति हृदय में स्वीकार की है[294] तथा काश्यपसंहिता में श्लेष्मा का स्थान हृदय कहा है। इस कारण जब तमोगुण की प्रबलता होती है तो पित्त अपने सत्व गुण के कारण उसे कम करता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण साधक पित्त को मेधा, प्रज्ञाकारक कहा है। साधक पित्त से अग्निकर्म होकर उपरोक्त मेधा आदि गुण बने रहते हैं।

आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान में बुद्धि और चिन्तन का स्थान मस्तिष्क कहा

गया है। परन्तु चिकित्सा में यह देखा जाता है कि हृदय को पुष्ट करने वाली औषधियों जैसे स्वर्ण, कस्तूरी, केशर आदि तैजस और आग्नेय द्रव्य देने से उसकी विचार स्मृति और बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। इसके विपरीत श्लेष्मवर्धक औषधि एवं आहार जैसे—दही, मांस, गुड़ आदि देने से उपरोक्त गुणों में कमी आती है, इससे स्पष्ट होता है कि हृदय में साधक पित्त द्वारा अग्निकर्म सम्पन्न होकर मेधा और प्रज्ञा बढ़ती है।

कुछ लोग यह भी स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार विभिन्न ग्रन्थियों से निकलने वाला स्राव शरीर में कार्य करता है, उसी प्रकार हृदय में भी साधक पित्त का स्राव होता है, जिससे मेधा और प्रज्ञा आदि गुणों का विकास होता है। परन्तु आधुनिक क्रियाविज्ञान की दृष्टि से हृदय में काई स्राव की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु एड्रीनल ग्लेण्ड (Adrenal Gland) से निकलने वाला स्राव एड्रीनलीन (Adrenaline) को हम साधक पित्त से तुलना कर सकते हैं। क्योंकि जब हम कोई साहस का कार्य करते हैं तो एड्रीनलीन का अधिक स्राव उत्पन्न करती है, यह शरीर के ऑटोनामिक नर्वस सिस्टम (Autonamic Nervous System) पर प्रभाव डालता है। इसके साथ ही रक्तवहसंस्थान पर भी प्रभाव रखता है। यह हृदय की गति को बढ़ाता है। जिससे शौर्य आदि कार्य करने के मन में जो विचार आते हैं, उनको पूर्ण कराने में सहयोग करता है। यह हृदय में उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु इसका प्रभाव मुख्यतः हृदय पर ही होता है। अतः इसे हृदयस्थ कहा जा सकता है।

अन्य संहिताकारों ने भी साधक पित्त की स्थिति हृदय में ही स्वीकार की है। वाग्भट्ट ने कहा है कि यह हृदय में स्थित पित्त, बुद्धि, मेधा, आत्माभिमान, उत्साह के द्वारा प्रयोजनों को सिद्ध करने के कारण साधक पित्त कहलाता है।[295]

सुश्रुत ने कहा है कि जो पित्त हृदय में स्थित है, उसे साधक अग्नि कहा जाता है, उसे अभिलाषित मनोरथ को पूर्ण करने वाला कहा है।[296]

इस प्रकार साधक पित्त द्वारा हृदय और मस्तिष्क का अग्निकर्म ठीक-ठीक सम्पन्न होता है। जिसमें मेधा आदि विशेषतायें मनुष्य को प्राप्त होती हैं।

श्लेष्मा या कफ दोष

श्लेष्मा शब्द के लिए कफ शब्द विशेष प्रचलित है। 'श्लेष्यति इति श्लेष्मा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्लेष्मा शरीर के सूक्ष्म और एयूल्ड सूत्रों को तथा सारे शरीर के अंगों को एक-दूसरे के साथ जोड़े रखने या संश्लिष्ट करने का कार्य करता है।

श्लेष्मा के लिए प्रयुक्त 'कफ' शब्द में 'क' शब्द का अर्थ जल है और 'फ' का

अभिप्राय है फलित होना। कफ वह तत्त्व (वस्तु) है जो जलीय तत्व के द्वारा विविध वृद्धिमूलक परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता रखता है।[297]

आयुर्वेद यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है कि शरीर के श्वेत, स्निग्ध, भारी और पिच्छिल स्राव कफजन्य माने गये हैं इनमें भी मुख तथा गले के स्राव आमाशय का स्राव, मस्तिष्क द्रव, हृदय फुफ्फुस की कलाओं के स्राव तथा सन्धियों के पिच्छिल स्रावों में कफ की अधिकता पायी जाती है।[298]

कफ का मुख्य आश्रय-स्थल रसधातु को माना गया है। शरीर रचना की दृष्टि से हमारे शरीर में स्थित पोषक रस, गर्भद्रव, रक्त-द्रव आदि तरल पदार्थ हैं जो कि स्निग्ध होने के कारण अंगों को संचालन से होने वाली परस्पर रगड़ से बचाते हैं तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता भी बनाये रखते है तथा संश्लेषण गुण के कारण कोशाओं एवं तन्तुओं को परस्पर जोड़े रहते हैं।[299]

कफ सोम्यगुण युक्त होता है, जबकि पित्त दाटक है। यदि शरीर में केवल पित्त ही होता तो उसकी अग्नि से शरीर जलकर भस्म हो जाता परन्तु इसके साथ-साथ इसका प्रतिद्वन्द्वी कफ भी रहता है इसलिए शरीर में सामंजस्य बना रहता है। पित्त और कफ दोनों एक-दूसरे का प्रतिकार करते हुए शरीर का धारण करते हैं।

कफ धातु के कारण ही प्रत्येक सेल में अपने जैसे दूसरे सेलों को पैदा करने की शक्ति रहती है। कफ के सामान्य स्थिति में रहने पर मस्तिष्क की अभिवृद्धि और पोषण करके यह मानसिक उत्साह, सन्तोष व सहनशीलता आदि कार्यों को करता है।[300]

कफ धातु शरीर की वृद्धि के साथ-साथ क्षतिपूर्ति में भी कारण है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि शरीर में किसी स्थान पर क्षति होने पर वहाँ पर अनेक प्रकार के स्थानीय परिवर्तित होकर क्षतिग्रस्त सेलों के स्थान पर नये सेल स्थान ग्रहण कर लेते हैं। जिससे वह क्षति शीघ्र ही भर जाती है। यह क्षतिपूर्ति उस समय और जल्दी होती है जब उस व्यक्ति को कफवर्धक आहार दिया जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह कार्य कफ धातु द्वारा होता है।

यह कफ धातु रूप होने पर शरीर की वृद्धि में सहायक होता है तथा दोषरूप में होने पर शरीर अतिनिद्रा, आलस, अरुचि एवं अन्य कफजन्य विकारों को उत्पन्न करता है। प्रतिश्याय, कफ रोग में मल रूप में मुख एवं नालिका से इसका स्राव निकलता रहता है।

आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान की दृष्टि से शरीर के प्रत्येक आवरण में Mucous Secretions, Secrous Secretions, Synovial Secretion, Grobrestional Blind आदि को कफ रूप में मान सकते हैं क्योंकि ये सभी स्राव

शरीर के विभिन्न अंगों का पोषण; धारण आदि कार्य करते हैं। इसके साथ-साथ आलिंगन कर्म करने वाले Graund Substance भी होता है जो विभिन्न कोषों के मध्य पाया जाता है।[301]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्लेष्मा या कफ हमारे शरीर के रचनात्मक, उपचयात्मक तथा उदक कर्म व्यापारों का मूल उपादान है।

कफ का स्वरूप एवं गुण

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ के स्वरूप एवं गुणों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। कफ चिकना, भारी, सफेद, पिच्छिल, शीतल अधिक तमोगुण वाला और मधुर होता है। यह विदग्ध होकर नमकीन हो जाता है।[302]

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि देहधारक अवस्था में श्लेष्मा के दो रूप होते हैं—(1) प्रसाद रूप या सूक्ष्म रूप, (2) स्थूलरूप (किट्टरूप)। प्रसाद या सूक्ष्म रूप में यह शरीर की कोशाओं तक व्याप्त रहता है और स्थूलरूप या किट्टरूप श्लेष्मा मुख, आमाशय, कण्ठ, गला आदि के स्रावों के रूप में परिश्रुत होता रहता है। यह स्निग्ध, गुरु, श्वेत, पिच्छिल, शीत, मधुर रस वाला होता है। कफ की विदग्ध और अविदग्ध दो प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। विदग्ध साम होता है और अविदग्ध विराम होता है। अविदग्ध अवस्था में यह मधुर गुणयुक्त और श्वेत रंग का होता है जबकि विदग्ध अवस्था में यह नमकीन और विवर्ण रहता है।[303]

1. स्निग्ध : शार्ङ्गधर ने कफ के गुणों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कफ को स्निग्ध कहा है, इसमें यह वैशिष्ट्य जल महाभूत की प्रधानता के कारण होता है।[304] इसीलिए यह शरीर में भी इन गुणों को उत्पन्न करता है। यदि हम स्निग्ध पदार्थों को आहार में लें तो श्लेष्मावृद्धि तथा रुक्ष पदार्थों के सेवन से श्लेष्मा का ह्रास होता है। यह स्निग्ध गुण वायु के रुक्ष गुण को साम्यावस्था में रखता है।[304A] कफ के इस स्निग्ध गुण के कारण ही कफ की अधिकता वाले पुरुष स्निग्ध शरीर तथा मधुर स्वभाव वाले होते हैं।

2. गुरु : कफ का दूसरा गुण गुरु है। पृथ्वी और जल महाभूत से उत्पन्न होने के कारण कफ गुरु हैं। यह गुरुता सापेक्ष ही अर्थात् वात और पित्त की अपेक्षा कफ गुरु है। शरीर के विभिन्न स्थानों में पाये जाने वाले लालारस (स्लाइवा), आमाशयिक कफस्राव, रसधातु, सन्धिद्रव, मस्तुलुंग द्रव, गर्भद्रव आदि रसों को लें तो इसका आपेक्षिक गुरुत्व 1005 से 2000 तक के बीच में आता है अर्थात् ये सभी श्लेष्ममूलक स्राव गुरु गुणयुक्त हैं। यह गुण वात के लघु गुण को साम्यावस्था में रखता है। गुरु गुण के कारण कफाधिक पुरुषों का

शरीर भारी, दृढ़ तथा स्थिर होता है। कफवर्धक आहार करने से शरीर का भार बढ़ता है तथा स्वभाव में गाम्भीर्य रहता है।

3. **श्वेत :** कफ का वर्ण श्वेत है। यह स्पष्ट ही देखा जाता है कि बाह्य-रूप में श्लेष्मस्रावों का रंग श्वेत ही होता है। जल का अपना रंग भी श्वेत माना जाता है।

4. **पिच्छिल :** श्लेष्मिक स्रावों में जलीय अंश की अधिकता होती है। इसके साथ ही साथ न्यूनाधिक पार्थिवांश भी रहता है। जल की अधिकता पिच्छिलता का कारण है।[305] आव्य भाग की अधिकता और पार्थिवांश के संसर्ग से यह पिच्छिल (लेसदार) होता है।

मुख आदि से निकलने वाला श्लेष्मा यद्यपि तरल होता है किन्तु पिच्छिलता के कारण सहसा फैल नहीं पाता और सान्द्र (गाढ़े) रहता है। म्यूकस (Mucous) का सादृश्य श्लेष्मा में है। इसी पिच्छिलता के कारण शरीर में स्थिरता व बन्धन कर्म सम्पन्न होते हैं। यह वायु के विशुद्ध गुण का विरोधी है। कफाधिक पुरुषों की मांसपेशियों और सन्धिबन्धनों की दृढ़ता में कफ का पिच्छिल गुण कारण है। इसी गुण के कारण रस, रक्त, शुक्र आदि में पिच्छिलता रहती है।

5. **शीत :** श्लेष्मा का अन्य गुण शीत है। श्लेष्मिक स्रावों में जलीयांश की अधिकता से तथा शीतल द्रव्यों के सेवन से श्लेष्मा की वृद्धि होने के कारण इनके भीतर शीत गुण की प्रधानता मानी गयी है। यह उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त होता है। कफ अथवा स्राव दाह-विक्षोभ-उष्णता को दूर करते हैं। शरीर में श्लेष्मा की वृद्धि के कारण शीतगुण की वृद्धि होती है जैसा कि कफज ज्वरादि में शीत का अनुभव होता है। यह शीत गुण पित्त की उष्णता को साम्यावस्था में रखता है। शीत गुण के कारण ही कफाधिक पुरुषों में स्वेद, क्षुधा-पिपासा आदि गुण कम होते हैं।

6. **तमोगुण :** श्लेष्मा में तमोगुण की प्रधानता होती है। क्योंकि इसके कारणभूत जल और पृथ्वी महाभूतों में तमोगुण की प्रधानता होती है। इसी गुण के कारण श्लेष्माधिक पुरुषों में धैर्य, क्षमाशक्ति, लोकहीनता जैसे गुण पाये जाते हैं।

7. **मधुर :** शार्ङ्गधर ने प्राकृत श्लेष्मा को मधुर कहा है। स्वस्थ दशा में मुख, कण्ठ आदि के स्राव मधुर स्वादयुक्त होते हैं। श्लेष्मा में जलीयांश की अधिकता होती है। जल को स्वभावतः मधुर गुण वाला स्वीकार किया है।[306] श्लेष्मा की मधुरता में पार्थिवांश भी कारण है।

यह भी स्पष्ट है कि मधुर रस के सेवन से कफ की वृद्धि होती है तथा शरीर में कफ की वृद्धि होने से मुख में मधुरता उत्पन्न होती है। इन्हीं कारणों से कफ को मधुर गुण वाला कहा गया है।

यह वायु के कटु आदि गुणों का विरोधी है। मधुर गुण के कारण कफाधिक पुरुष अत्यधिक वीर्य वाले, अधिक मैथुन शक्तिसम्पन्न तथा अधिक सन्तान वाले होते है।

8. **विदग्ध :** शार्ङ्गधर के अनुसार श्लेष्मा की विदग्धावस्था वह है जो कफ या साम अवस्था में होता है। इस स्थिति में वह स्वाद में नमकीन रहता है। यह कफ की वैकृत दशा को दर्शाता है।

इस प्रकार शार्ङ्गधर ने श्लेष्मा के प्राकृत व वैकृत दोनों गुणों को स्पष्ट किया है।[307]

अन्य संहिताग्रन्थों में भी कफ गुणों को लगभग इसी प्रकार स्वीकार किया गया है।

चरक के अनुसार गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर स्थिर, पिच्छिल ये श्लेष्मा के गुण हैं। यदि इनके विपरीत क्रमशः लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष, कटु, सर, विशद गुणों से युक्त द्रव्यों का सेवन करें तो उपरोक्त बढ़े हुए गुण शान्त होते हैं।[308]

सुश्रुत के अनुसार श्लेष्मा, श्वेतवर्ण भारी, चिकना, लेसदार, शीतल, कोमल, स्थिर गुणों से युक्त होता है। यह अविदग्ध अर्थात् पक्व या प्राकृत अवस्था में मधुर और विदग्ध (अपक्व या वैकृत) अवस्था में नमकीन हो जाता है।[309]

भेल ने कहा है कि मधुर, अम्ल लवण रसों या रसयुक्त द्रव्यों को कफ के समान रस (गुण) युक्त समझना चाहिए।[310]

कफ के कर्म

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ सारे शरीर की स्थिरता, पुष्टि तथा दृढ़ता को बनाये रखता है।[311] यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इनमें भी रस धातु कफ का मुख्य वाहक और आधार है। यह स्वतन्त्र रूप से रस (लिम्फ) के रूप में तथा रक्त के साथ रक्तद्रव (प्लासमा) के रूप में रहता है। रक्त के साथ रहकर यह रस सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता हुआ सभी आशयों धातु और उपधातु तक पहुँचता है और वहाँ पर स्थित तन्तु कोशाओं को उनका अपना-अपना अंश प्रस्तुत करता है, जिससे शरीर की पुष्टि होती है। इसी रस से शरीरगत सभी तन्तु परस्पर संयुक्त रहते हैं, जिससे शरीर की स्थिरता और दृढ़ता बनी रहती है। इसके द्वारा ही शरीर में स्थान-स्थान पर सन्धियों का स्नेहन होता है तथा क्षति तन्तुओं की मरम्मत भी होती है। कफ ही रस शरीर में पहुँचे हुए जीवाणुओं को भक्षण करने वाले श्वेतकणों (लघुकोसाइट्स) का आश्रय-स्थल है। इसी के माध्यम से ये श्वेतकण शरीर में गति करते हैं।

देह तन्तुओं की वृद्धि कफ ही करता है। उदाहरणस्वरूप जब शरीर में

किसी स्थान पर वर्ण बन जाता है तो उसे ठीक करने के लिए वहाँ पर नवीन तन्तुओं का निर्माण होता है। यह तन्तुवृद्धि श्लेष्मिक स्रावों के साथ धात्वंश के वहाँ पर पहुँचकर कोशाओं के परस्पर संश्लिष्ट होने से सम्पन्न हो पाती है।

चुल्लिका ग्रन्थि (थायरॉयड) के स्राव को भी हम श्लेष्मिक स्राव के अन्तर्गत मान सकते हैं क्योंकि इससे उत्पन्न श्लेष्मिक स्राव का शरीर के विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि इसका स्राव कम हो जाय तो धातु निर्माण की प्रक्रिया शिथिल पड़ जाती है, जिससे शारीरिक और बौद्धिक विकास रुक जाता है।[312]

इसी प्रकार मस्तिष्क में स्थित पीयूष ग्रन्थि (पिटयूटरी) के कुछ स्राव भी शरीर में वृद्धि कर्म करते हैं। इसमें कार्यों की तुलना ग्लेण्ड श्लेष्मा के अन्यतम रूप ओज से कर सकते हैं।[313]

अण्डकोषों के बहिःस्राव से शुक्राणुओं की उत्पत्ति होकर गर्भोत्पत्ति होती है और इसके अन्तःस्राव टेस्टोस्टेरोन से पौरुष के चिह्न श्मश्रु आदि वृद्धि कर्म सम्पन्न होते हैं। अण्डकोषों के बहिःस्राव को शुक्र कहते हैं और शुक्र को श्लेष्मा का अधिष्ठान कहा गया है। स्त्रियों में अन्तःफल ओवरी (Ovary) के बहिःस्राव से डिम्ब (Ovam) की उत्पत्ति होकर गर्भ स्थापना होती है। और अन्तःस्राव (प्रोजेस्टोरोन व ओस्टोरोन) द्वारा स्त्रियोचित लक्षण स्तन्य एवं दाढ़ी-मूँछ का न निकलना तथा मासिक स्राव आदि कार्य सम्पन्न होते हैं।[314]

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त ग्रन्थियों या अन्य अवयवों के स्राव जिनसे शरीर में वृद्धि कर्म सम्पन्न हों वे सब श्लेष्मामूलक हैं और श्लेष्मा के अन्तर्गत हैं। इसीलिए शार्ङ्गधर ने श्लेष्मा के कर्म शरीर की स्थिरता, पुष्टि और दृढ़ता को कहा है।

अन्य संहिताग्रन्थों में कफ के कर्म निम्न प्रकार बतलाये हैं। चरक के अनुसार प्राकृत श्लेष्मा बजरूप है, विकृत को मल कहा जाता है। देह के भीतर यही श्लेष्मा ओज के रूप में होता है और यही विकृत होकर रोगरूप हो जाता है।[315]

स्नेह का कार्य देह के विभिन्न स्थानों में स्निग्धता उत्पन्न करना, बन्ध-सन्धियों को परस्पर सम्बद्ध रखना, देह मन को दृढ़ बनाना, शरीर और मन में क्रमशः उचित गुरुता एवं गाम्भीर्य उत्पन्न करना, वृषता उत्पादक अंगों को बलिष्ठ रखना तथा कामशक्ति को स्वाभाविक बनाये रखना, देह मन इन्द्रियों में सामर्थ्य, क्षमा, कष्टसहिष्णुता उत्पन्न करना, मन में स्थिरता रखना, लोक-हीनता उत्पन्न करना, ये सब प्राकृत कफ के कार्य हैं।[316]

सुश्रुत के अनुसार अपनी नाड़ियों में संचार करता हुआ श्लेष्मा शरीर के अवयवों में स्निग्धता, सन्धियों में दृढ़ता, बल, सामर्थ्य, उमंग, उत्साह, उदात्त-

भाव तथा इसी प्रकार अन्य गुणों को भी उत्पन्न करता है।[317]

सन्धियों को चिकनाये रखना, आहार को गीला और नरम बनाना, वर्णों को भरना, रिक्त स्थलों (नेत्रगुहा, कपोल, मस्तिष्क आदि) को स्रावों से परिपूर्ण रखना, बल सामर्थ्य उत्पन्न करना इत्यादि कार्यों को श्लेष्मा सम्पन्न करता है। यह पाँच प्रकारों में विभक्त होकर उदककर्म के द्वारा शरीर को लाभ पहुँचाता है।[318]

वाग्भट्ट के अनुसार देह मन की दृढ़ता, चिकनाहट और स्नेह-भाव, सन्धियों में दृढ़ता, कामशक्ति और मानसिक प्रफुल्लता, सहिष्णुता, बुद्धिमत्ता, धीरता, बल सामर्थ्य और मानसिक स्थिरता आदि कार्यों के द्वारा प्राकृत श्लेष्मा देह को लाभान्वित करता है।[319]

कफ के स्थान

शार्ङ्गधर के अनुसार प्राकृत कफ, आमाशय-शिरोदेश, कण्ठ, हृदय और सन्धियों में रहता हुआ देह को स्थिरता प्रदान करता है और इसके सम्पूर्ण अवयवों को कार्यक्षम बनाता है।[320]

यद्यपि वात पित्त की भाँति कफ की समस्त देहव्यापी होने पर भी इनके जो अनेकानेक स्थान आमाशय, सिर, कण्ठ, हृदय आदि स्थान निर्दिष्ट किये गये हैं। उसका कारण यह है कि इन स्थानों पर इनका प्राकृत रूप अधिक उत्तमता और स्पष्टता के साथ प्रकट होता रहता है।[321]

आमाशय में कफ द्वारा आहार-क्लेदन का कार्य होता है। इसलिए कफ का स्थान आमाशय कहा है तथा श्लेष्म विकृति की दशा में फुफ्फुस व आमाशय का दूषित कफ कण्ठ और गले में विशेष रूप से प्रकट होता है।[322] सिर में कफ द्वारा मस्तिष्क तर्पण का कार्य होता है। इसी प्रकार सन्धियों में भी कफ द्वारा स्नेहकर्म प्रतिक्षण होता रहता है।

कफ का स्थान हृदय भी कहा है। उसमें प्रथम कारण यह है कि रस धातु श्लेष्मा का मुख्य वाहक और आधार है। यह कफ लिम्फ के रूप में स्वतन्त्र भी रहता है और रक्त के साथ-साथ रक्तद्रव या प्लाज्मा के रूप में भी चलता है, हम यह पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं। इस रस को सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण कराने का कार्य हृदय करता है। इसलिए कफ का स्थान हृदय कहा है। दूसरा कारण यह है कि ओज को हृदयाश्रित माना गया है। इस प्रकार हृदय स्वतः ही कफ का आवास-स्थल है तथा तमोगुणमूलक कफ का हृदय पर प्रतिक्षण प्रभाव पड़ता है। इसी के कारण मनुष्य के स्वभाव में स्थिरता आदि गुण प्रकट होते हैं।

यदि हम आधुनिक दृष्टिकोण से विचार करें तो शार्ङ्गधर ने कफ के जितने

भी स्थान बताये हैं वे सर्वथा युक्तियुक्त हैं यथा श्लेष्मा का स्थान आमाशय कहा है, इसके ऊपरी भाग में स्थित श्लेष्मा ग्रन्थियों से उत्पन्न होने वाला म्यूकस (Mucous) कफ ही है, जिसका कार्य अन्तक्लेदन है। मस्तिष्क के प्रकोष्ठों (Ventricals) में रहने वाला सेरिब्रोस्पाइनल फल्यूड (Serebrospainal fluid) श्लेष्मा ही है, जिसका कार्य मस्तिष्क का पोषण है। कण्ठ आदि स्थानों में Mucos Membrane से पैदा होने वाला Mucous Secretion श्लेष्मा है। सन्धियों में स्थित Saynoviyl fluid (साइनोवियल फल्यूड) को कफ कहा जा सकता है। हृदय द्वारा सम्पूर्ण शरीर में रससंवहन का कार्य होता ही है।

चरक संहिताग्रन्थ में कफ के स्थान निम्नलिखित प्रकार से कहे हैं। कफ का स्थान सम्पूर्ण शरीर कहा है[323] परन्तु उरःस्थल या छाती, सिर, ग्रीवा अर्थात् मुख-कण्ठ, पर्वस्थान या सन्धिस्थल, आमाशय, मेद ये श्लेष्मा के स्थान हैं, इनमें भी उरःस्थल विशेष रूप में श्लेष्मा का स्थान है।[324]

सुश्रुत के अनुसार संक्षेप में आमाशय श्लेष्मा का स्थान है[325] तथा उरः-स्थल, सिर, कण्ठ, जिह्वामूल, सन्धियाँ कफ के स्थान हैं।[326]

वाग्भट्ट ने शरीर में हृदय से ऊपर का भाग कफ का स्थान कहा है।[327] उरः-स्थल, कण्ठ, सिर, क्लोम अर्थात् गले की अन्नप्रणाली, सन्धियाँ, आमाशय, रस, मेद, नासिका और जिह्वा है। इनमें भी उरःस्थल विशेष रूप में श्लेष्मा का स्थान है।[328]

काश्यपसंहिता के अनुसार मेद, सिर, उरःस्थल, ग्रीवा, सन्धि, बाहु ये कफ के आश्रय-स्थल हैं, इनमें भी हृदय को श्लेष्मा का विशेष स्थान कहा जाता है।[329]

इस प्रकार संक्षेप में कफ के मुख्य स्थान आमाशय और उरःस्थल हैं। इनके अतिरिक्त सिर, कण्ठ, हृदय और सन्धि भी श्लेष्मा के प्रमुख स्थल हैं।

कफ के प्रकार

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ पाँच प्रकार का है। आहार का क्लेदन करने वाला क्लेदन, सिर में स्थित इन्द्रियों का स्नेहन करने वाला स्नेहन, खाद्य-पदार्थों के रसों का ज्ञान कराने वाला रसन, हृयद-फुफ्फुस-त्रिक-सन्धि आदि को अवलम्बन कराने वाला अवलम्बन, सन्धियों का संश्लेषण करने वाला श्लेषक।[330]

उपरोक्त जो कफ के पाँच प्रकार बतलाये हैं, इन स्थानों पर कफ आश्रित होकर किन-किन रूपों में दिखाई पड़ता है। शरीरस्थ मुख-आमाशय-उरःस्थल-मस्तिष्क और सन्धिस्थल इन पाँच स्थानों पर क्रमशः रसबोधन, आहारक्लेदन, हृदयावलम्बन, इन्द्रियतर्पण और सन्धिसंश्लेषण कर्म श्लेष्मा द्वारा होता है। इस-लिए इनके अलग-अलग पाँच नाम रखे गये हैं वैसे मूलतः कफ का एक ही रूप है।

वाग्भट्ट के अनुसार अवलम्बन, क्लेदन, बोधक, तर्पक, श्लेषक इन भेदों के द्वारा प्राकृत श्लेष्मा पाँच प्रकारों में विभक्त रहता है।[331]

सुश्रुत के अनुसार श्लेष्मा पाँच प्रकार से विभक्त होकर उदककर्म द्वारा देह को लाभ पहुँचाता है।[332]

भावप्रकाशकार के अनुसार स्थान भेद से कफ क्लेदन, रसन, स्नेहन तथा श्लेषण पाँच प्रकार का है।[333]

क्लेदक कफ

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ आमाशय में रहकर मुक्त पदार्थों को अपने क्लेदन गुण से शिथिल कर उसे पचने योग्य बनाता है।[334] यह कफ शेष स्थानों में स्थित श्लेष्मा को बल देता है तथा उदक कर्मों से शरीर का उपकार करता है।[335]

यह क्लेदक कफ आमाशय के ऊपरी भाग में स्थित श्लेष्म-कला के स्राव के रूप में उत्पन्न होता है। यह स्राव पारदर्शक और लेसदार होता है। मुख द्वारा ग्रहण क्रिया भोजन अन्नप्रणाली से होता हुआ जब आमाशय में पहुँचता है तो लगभग एक से दो घण्टे तक उपर्युक्त श्लेष्मिक स्राव इस भोजन के साथ सम्मिलित होता रहता है। इसके परिणामस्वरूप भोजन का एक-एक कण अच्छी तरह गीला होकर मुलायम हो जाता है और आमाशय में मथ-सा जाता है और माधुर्य को प्राप्त होकर फेनीभूत हो जाता है,[336] जिससे आगे आने वाले पाचक रसों की क्रियायें भली प्रकार हो सकें। यदि यह क्लेदन कर्म न हो तो पाचक रसों की क्रियायें नहीं हो पायेंगी। आमाशय का अन्न जब गृहणी में पहुँचता है तो वहाँ भी क्लेदक कफ गृहणी की श्लेष्म-कला से निकलकर भोजन में मिलकर पचन में सहायता करता है।

आधुनिक शरीरक्रियाविदों के अनुसार क्लेदक कफ को गेस्ट्रिक म्यूकस सिक्रीशन (Gestric Mucous Sicrition) कहा जा सकता है यह आमाशय के म्यूकस ग्लेण्ड (Mucous Gland) द्वारा पैदा होता है जो कि आमाशय मुख्यतः आमाशय के ऊपरी भाग में होते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हुए चरक ने कहा है कि अन्न के ग्रहण करने के उपरान्त जब छः रसों का परिधान होता है, उस समय सर्वप्रथम क्लेदक कफ द्वारा माधुर्य को प्राप्त होकर फेनभूत हो जाता है।[337]

सुश्रुत के अनुसार आहार द्रव्यों में रहने वाली मधुरता लेस, आर्द्रता, द्रवता, स्निग्धता आदि के कारण आमाशय में क्लेदक कफ भी मधुर शीलत उत्पन्न होता है। यह क्लेदक कफ आमाशय में रहता हुआ ही अपने प्रभाव से श्लेष्मा

के अन्य स्थानों को तथा सम्पूर्ण शरीर को 'उदक कर्म' के द्वारा अनुगृहीत करता है।[338]

वाग्भट्ट एवं भावमिश्र के अनुसार भी जो प्राकृत श्लेष्मा आमाशय में स्थित है, वह आमाशय में पहुँचे हुए अन्तसमूह का क्लेदन कर्म करने के कारण क्लेदक कहलाता है।[339]

स्नेहन कफ

शार्ङ्गधर के अनुसार स्नेहन कर्म करने वाला स्नेहन कफ शिरोदेश में स्थित रहता है।[340] अर्थात् यह शिरोदेश में संचार करता है और इसके द्वारा मस्तिष्क एवं आँख-कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का स्नेहन पोषण होता है।

हमारे शरीर में मस्तिष्क और सुषुम्ना श्लेष्मिक द्रव से परिवेष्टित रहते हैं। इस द्रव की पूर्ति रस-रक्त द्वारा होती रहती है। इस द्रव को मस्तिष्क स्नेह या मस्तिष्क द्रव कहते हैं। पाश्चात्य क्रियाशरीर में इसे सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड कहा गया है। इसकी उत्पत्ति चौथे वेन्ट्रिकल में स्थित क्लोइड फ्लेक्सस (Cloid Pleycses) से होती है। यह स्नेहन कफ लिम्फ (Lymph) की कोटि का है।[341]

इसके अनेक कार्य हैं। इसका प्रथम कार्य मस्तिष्क का पोषण देना है। क्योंकि यह सभी पोषक पदार्थों से युक्त होता है। इस पोषण कार्य को वाग्भट ने तर्पण शब्द से कहा है।[342] इसके अतिरिक्त यह वाह्य आघातों से बचाता है तथा जीवाणुओं का प्रतिरोध भी इसका कार्य है। मस्तिष्क में संचारित विषों को यह स्वयं आचूषित करता हुआ उन्हें विष प्रभावों से बचाये रखता है। यह द्रव स्नायुमण्डल को तथा मस्तिष्क को स्निग्ध बनाये रखता है। इसी कारण इसको स्नेहन कफ कहा है। भावमिश्र के अनुसार स्नेहन कफ समस्त इन्द्रियों का स्नेहन और तर्पण करता है। मस्तिष्क द्रव की मात्रा बढ़ जाने पर यह रोगोत्पादक है। तब इसे (Lamber Puncture) करके बाहर निकाल दिया जाता है। जिससे रोग ठीक हो जाता है।

मस्तिष्क द्रव के अतिरिक्त शिरोदेश में स्थित तेज-नासिका-जिह्वा और कर्ण की श्लेष्म कलाओं के श्लेष्मिक स्राव निकलते रहते हैं। यह स्नेहन कफ इन इन्द्रियों का स्नेहन कर्म करने के साथ-साथ रोगोत्पादक सूक्ष्म कृतियों से भी इनकी रक्षा करता है।

सुश्रुत के अनुसार शिरोदेश में स्थित श्लेष्मा, स्नेहन और पोषण कर्म के लिए उत्तरदायी होने के कारण, अपने प्रभाव से आँख-कान-नाक-जिह्वा-त्वचा आदि इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में सामर्थ्य प्रदान करता है।[345]

रसन कफ

शार्ङ्गधर के अनुसार रसन कफ का स्थान कण्ठ है।[346] रसन कफ को भाव-प्रकाशकार ने भी स्वीकार करते हुए इसका स्थान कण्ठ ही बताया है।[347] और वाग्भट्ट ने रसन कफ को बोधक कफ कहा है और उसका समान रसना बताया है।[348] सुश्रुत के अनुसार बोधक कफ का स्थान जिह्वामूल और कण्ठ है।[349]

कफ का जो रूप कण्ठ, जिह्वा या जिह्वमूल में विद्यमान है तथा जिसके माध्यम से किसी पदार्थ के रस या स्वाद का ज्ञान होता है, उसे रसन कफ कहा गया है।

यद्यपि रस या स्वाद की प्रतीति जिह्वा में स्थित स्वादांकुरों (Teste Buds) द्वारा होती है फिर भी कटु और कषाय रस का अनुभव कण्ठ को भी होता है। कण्ठ से हम जिह्वामूल का भी ग्रहण कर सकते हैं। स्वादांकुर रस का ग्रहण तभी कर पाते हैं, जब मुख में रहने वाला उपरोक्त रसन कफ कफ स्वादांकुरों को गीला बनाये रखता है। यदि स्वेदांकुरों को ब्लोटिंग पेपर से बिलकुल सुखा दिया जाय तो वे स्वाद ग्रहण नहीं कर पाते हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रसन कफ द्वारा ही रस बोधन का कार्य होता है।

रसन कफ की उत्पत्ति स्वादांकुरों के निकटवर्ती भागों में स्थित श्लेष्म-ग्रन्थियों (म्यूकस ग्लेण्ड) से हुआ करती है और मुख-जिह्वा-जिह्वामूल कण्ठ के सभी भागों में फैला रहता है।

रसन कफ रसप्रतीति में अनिवार्य माध्यम होने के कारण अपना विशिष्ट और पृथक् महत्व रखता है वैसे पदार्थों के रसों का ज्ञान जिह्वा में स्थित वात नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क स्थित केन्द्र तक जाता है तथा मस्तिष्क में रस ज्ञान होता है।

आधुनिक मतानुसार रसज्ञान जिह्वा तथा जिह्वामूल में स्थित स्वादांकुरों (Teste Buds) द्वारा होता है। जिह्वा के अग्रभाग में मधुर व लवण रस, जिह्वा-मूल में तिक्तरस और दोनों पार्श्व भागों में अम्ल रस का ग्रहण होता है। स्लाइवा (Sliva) या लालास्राव में स्थित श्लेष्मांश (Mucin) के द्वारा रसबोधन का कार्य सम्पन्न होता है। रसन कफ को मुँह और गले से निकलने वाला श्लेष्मस्राव (Mucous Sicretion) मान सकते हैं।

अवलम्बन कफ

शार्ङ्गधर के अनुसार अवलम्बन कफ हृदय में स्थित रहकर उसका अवलम्बन करता है।[352] हृदय के अवलम्बन करने के कारण इसका नाम अवलम्बन कफ रखा गया है।

भावमिश्र के अनुसार अवलम्बन कफ रस, रक्त वीर्य के साथ मिलकर त्रिक सन्धारण तथा हृदय का अवलम्बन कर्म करता है। उन्होंने त्रिक शब्द का अर्थ 'शिरोबाहुद्वयसन्धिः' किया है।[351] डल्हण तथा इन्दु के अनुसार त्रिक का स्थान बहुग्रीवा सन्धि है।[352] वैसे इस त्रिक शब्द से दोनों फुफ्फुस व हृदय इनसे बनने वाले त्रिक अर्थात् त्रिकोण का अर्थ लेना चाहिए क्योंकि यही अवलम्बन कफ के आधार हैं।

रस को श्लेष्मा का विशिष्ट स्थान पूर्व ही कह चुके हैं। यह अवलम्बन कफ रसधातु के साथ मिलकर हृदय का अवलम्बन करता है तथा हृदय के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फेंका जाकर शरीर में अन्य श्लेष्म स्थानों को पोषण देता है। इस प्रकार अवलम्बन कफ के मुख्यतः तीन कार्य हैं—त्रिकसंधारण, हृदयावलम्बन तथा अन्य श्लेष्म स्थानों का पोषण।

नासिका से लेकर फुस्फुओं के भीतर की श्वासतलिकाओं तक सम्पूर्ण प्राणवह स्रोतस् में श्लेष्मस्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं, इनसे निरन्तर श्लेष्मिक स्राव होने से यह समस्त प्रदेश श्लेष्मद्रव से सिक्त रहता है। इससे वायु के अन्तर्गत व निर्गमन में सुविधा रहती है। साथ ही मलरूप में कफ सरलता से बाहर आ जाता है। इसी प्रकार फुस्फुसावरणों और हृदयावरणों के भीतर भी श्लेष्मिक स्राव सर्वदा विद्यमान रहता है। जिससे ये आवरण परस्पर रगड़ से बचे रहते हैं तथा हृदय और फुस्फुसों को सुरक्षित बनाये रखते हैं। इन्हीं कार्यों से स्पष्ट होता है कि अवलम्बन कफ हृदय आदि अंशों को आहाररस से शक्ति एकत्रित करता हुआ अपने प्रभाव से हृदय को सबल बनाये रखता है। यही अवलम्बन कफ का कार्य है।

आधुनिक शरीरक्रिया वैज्ञानिकों के अनुसार सीरस फ्लूड (Serous fluid) कहा जा सकता है। फुस्फुस नलिकाओं से निकलने वाला म्यूकस (Mucous) फुस्फुसावरणों में रहने वाला फ्यूरल फ्लूड (Eleural fluid) हृदयावरणों में रहने वाला पेरीकार्डियल फ्लूड (Pericardial fluid) यह सभी अवलम्बन कफ के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि इनका कार्य हृदय तथा फुस्फुसों का धारण, पोषण तथा स्नेहन करना है।

सुश्रुत के अनुसार वक्षःस्थल में स्थित श्लेष्मा त्रिक को सम्भाले रहता है और अन्नरस के साथ मिलकर अपनी शक्ति से हृदय को सहारा देता है।[354]

वाग्भट्ट के अनुसार उरःस्थल में स्थित कफ त्रिक को और अन्न की शक्ति से युक्त अपनी शक्ति से हृदय को सहारा देता है। यह उस स्थान पर रहता हुआ ही उदककर्म के द्वारा शेष कफ स्थानों का भी अवलम्बन करता है। इसीलिए अवलम्बन कफ कहलाता है।[355]

श्लेष्मक कफ

शार्ङ्गधर के अनुसार श्लेष्मक कफ का स्थान सन्धि स्थान है। इससे स्पष्ट होता है कि यह नानाविध देहतन्तुओं और अवयवों के सन्धिस्थलों में और मुख्यतः अस्थिसन्धियों में रहता है। इस श्लेष्मक कफ के द्वारा दो या दो से अधिक मांस-पेशियां भी संश्लेष्टित रहती हैं। इस प्रकार दो अवयवों के मध्य में श्लेष्मक कफ की विद्यमानता का एक लाभ यह है कि वे भाग आपस में जुड़े रहते हैं और श्लेष्मक कफ की पिच्छिलता व स्नेह के कारण सन्धियों में हाने वाली रगड़ से अस्थियाँ बची रहती हैं। इसीलिए संश्लेषण कर्म करने के कारण इसका नाम श्लेष्मक कफ रखा गया है।

इसका कार्य सन्धियों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। सन्धिस्थान पर अस्थियाँ श्लेष्मधराकला द्वारा आवृत्त रहती हैं, इनमें श्लेष्मक कफ के रूप में पिच्छिल द्रव निकलता रहता है। यह द्रव सन्धिस्थलों पर थैलियों में भरा रहता है जो अस्थियों को रगड़ से बचाती हैं।

आधुनिक शरीरक्रियाविदों के अनुसार भी साइनोवियल केविटी (Synovial Cavity) में स्थित साइनोवियल फ्लूड (Synovial fluid) भरा रहता है। यह फ्लूड साइनोवियल मेम्ब्रेन (Synovial Membrane) द्वारा पैदा होता है। यह साइनोवियल फ्लूड रंगरहित चिकना पदार्थ होता है। इस द्रव में म्यूसिन (Mucin), एलब्यूमिन (Albumin), फेट्स (Fats) या वस्त तथा खनिज लवण पाये जाते हैं। इसमें म्यूसिन (Mucin) होने के कारण यह चिकनाई के साथ-साथ पोषण देने का कार्य भी करता है। इस प्रकार हम साइनोवियल फ्लूड को श्लेष्मक कफ के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

सुश्रुत के अनुसार सन्धिगत श्लेष्मा, समस्त सन्धियों का संश्लेषण करने के कारण सब सन्धियों पर अनुग्रह करता है।[357]

वाग्भट्ट के अनुसार सन्धिस्थलों में विद्यमान श्लेष्मा, सन्धियों में चिकनाहट लाने के कारण श्लेषक कहलाता है।[358]

भावमिश्र के अनुसार यह श्लेष्मा द्वारा सभी सन्धियों का संश्लेषण करता है।[359]

इस प्रकार श्लेष्मक कफ छोटे-बड़े देहावयवों को परस्पर संयुक्त रखकर उनके सन्धिस्थलों में स्नेहन बनाये रखता है, जिससे शरीर की सन्धियाँ सौ वर्ष तक ठीक-ठीक कार्य करती रहती हैं।

सन्दर्भ

1. वायु: पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।

अष्टाङ्गहृदयम् सूत्र-स्थान, अ० 1-6

2. शरीरदूषणाद्दोषा……। शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-24
3. सर्वप्राकृतकर्मसु सकर्तृकनियामकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दूषणशीलत्वं दोषत्वम्, तच्च वातादिषु त्रिष्वेव नान्यत्र ।
4. "प्रकृत्यारम्भकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम् ।"

माधवविदान—मधुकोश टीका

5. शरीरे जायमानानां क्रियादीनां प्रवर्तकः। प्रकृतिं जनयेद् यस्तु विषमो रोगकारकः, समः संजनयेत् स्वास्थ्यं स दोषः परिकीर्त्यते ।। वातपित्त-कफाज्ञेया, एवं लक्षणलक्षिताः । तस्मादेते त्रयो दोषा चतुर्थो नास्ति कश्चन ।।

त्रिदोष, विज्ञान—उपेन्द्रनाथ दास, अ० 4

6. वायु: पित्तं कफो दोषाः ।। शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड, अ० 5-23
7. (क) वायु: पित्तं कफश्चोक्त ! शारीरो दोषसंग्रहः ।।

चरक सूत्र अ० 1-57

(ख) वायु: पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।

अष्टाङ्गहृदयं सूत्रस्थान अ० 1-6

(ग) किमाश्रय इति, वातपित्तकफाश्रयः ।।

काश्यपसंहिता विभाव-स्थान, पृष्ठ 43

8. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिकदत्तमद्भ्यः ।
ओमानं शंयोर्मम कायसूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ।।

ऋक् 1/34/6

9. यो अभ्रजा वातजा यश्च सुष्मो वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च ।।

अथर्व० 1/31/92

10. ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अव्य दधातु मे । अथर्व०काण्ड 1/सूक्त 1-1
11. तत्र वा गतिगन्धनयो इति धातु…कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः…रूपाणि भवन्ति ।।

सु० सू० अ० 21-5

× × ×

वातः पुल्लिङ्गे, वा + क्तः = वातः। स्पर्शमात्रविशेषगुणके भूतभेदे पवने देहस्थे धातुभेदे च ॥ —(शब्दस्तोम)

× × ×

गतिमन्धनार्थस्य वा-धातोः 'ह्सिमृग्रिण्वमिदमिलूपूर्घूविभ्यस्तन्' 33/86 इति सूत्रोत्पन्ने तन् प्रत्यये 'वात' इति रूपम् ॥—डल्हन

12. 'गति-ज्ञान-प्राप्ति इत्यनर्थान्तरम्'—पाणिनी
13. गन्धनं उत्सोह स्यात् प्रकाशने सूचनेऽपि हिंसायाम् ॥ मोदिनी, वर्ग 20-57
14. तप सन्तापे···कृद्विहितैः प्रत्ययै···पित्तं···इति च रूपाणि भवन्ति ॥ सु० सू० अ० 21-5

× × ×

सन्तापार्थस्य 'तप' धातोः, अचि प्रत्यये अकारस्य इत्वे वर्णविपर्ययेतस्य च द्वित्वे कृते 'पित्तं' इति रूपम्। एतेन पित्तस्य स्वाभाविक सत्ताप-लक्षणं दर्शितम् ॥—डल्हन

15. पित्तं नपुंसकलिङ्गे। अपि + दा + क्तः, त आदेशः, अल्लोपः, न दीर्घः, देहस्थे धातुभेदे ॥—शब्दस्तोम
16. श्लिष आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः, प्रत्ययैवतिः···श्लेष्मा इति च रूपाणि भवन्ति ॥ सु० सू० अ० 21-5

× × ×

आलिङ्गनार्थस्य श्लिष् धातोः मनिन् प्रत्यये 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' इति गुणे च कृते श्लेष्मा इति रूपम्। एतेन श्लेष्मणः सन्ध्यादि योजकत्वम् दर्शितम्।—डल्हन

17. कफः पुल्लिङ्गे। केन जलेन फलति इति। शरीरस्ये धातुभेदे। — शब्दस्तोम
18. कफस्य उपश्लेषकत्वं उक्तं भवति ॥ —चक्रपाणिदत्त
19. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मा त्राण्यु भयगिन्द्रिय तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गण. ॥ सांख्यदर्शनम्—अ० 1-61
20. सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
    निबध्नन्ति महावाहो। देहे देहिनामव्ययम्। गीता अ० 14-5
21. सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान अ० 4-81 से 97
22. कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्।
    महाप्रकृतयस्त्वेता रजः सत्वतमः कृताः।
    प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत्।
    सुश्रुतसंहिता शारीर अ० 4-98-99

23. सत्वं लघु प्रकाशकं इष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरण कमेन तमः प्रदीपवच्चार्यतो वृत्ति।
सांख्यकारिका, वृत्ति—12-13

24. "सत्वं लघु प्रकाशकं इष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥"
सांख्यकारिका वृत्तिः 12-13

25. 'मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च।'
चरक, सू० अ० 1-57

× × ×

'रजस्तमश्च मानसौ दोषौ।'—चरक वि० अ० 6-5

26. (क) '···तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि···।' सांख्यसूत्र 1-61
(ख) 'तन्मात्रपञ्चकात्तस्मात्संजातं भूतपञ्चकम्।
व्योमानिलानलजलक्षोणीरूपं च तन्मतम्॥'
शार्ङ्गधर, पूर्व० खण्ड अ० 5-63

27. 'शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसगन्धावनुक्रमात्।
तन्मात्राणां विशेषाः स्युः स्थूलभावमुपगताः॥'
शार्ङ्गधर, पूर्व० अ० 5-64

28. "तत्र सत्व बहुलमाकाशं, रजो बहुलो वायुः, सत्वरजो बहुलोऽग्निः, सत्वतमोबहुला आपः, तमो बहुला पृथिवीति॥"
सुश्रुत शारीर अ० 1-20

29. "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्वेरापः, अद्भयः पृथ्वीति।"
तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली-2 अनुवाक्-1

30. 'वाप्वाकाशधातुभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तं। अम्भपृथिवीभ्यां श्लेष्मा।'
अष्टाङ्गसंहिता सू० अ०—20-1

31. "ते च द्वे द्वे देवते श्रिताः, मारुतं आकाशं च वातः श्रितः, अग्निं आदित्यं च पित्तम्, सोमं वरुणं च कफः, ताः तेषां देवताः॥"
काश्यपसंहिता शा० अ०—1

32. पवनः·········रजोगुणमयः। शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-26
पित्तं·········सत्वगुणोत्तरम्। ,, ,, 5-29
कफः·········तमोगुणाधिकः। ,, ,, 5-33

33. एतान्येव पञ्चमहाभूतानि चेतनशरीरे वातपित्तश्लेष्मेति नामभिरभिधीयन्ते। अत एव आयुर्वेदे वातपित्तश्लेष्माणः शरीराम्भकाः शरीरकार्यसाधकाश्चोच्यते। त्रिदोषविज्ञान ले०—वैद्य धर्मदत्त, पृ० 17

34. उपादानकारणानि भूतानि आकाशादीनि । —डल्हण
35. "सर्वा हि चेष्टा वातेन ।"—चरक सूत्र,अ० 18-117
"प्रवर्तकश्चेष्टानाम् ।"—चरक सूत्र, अ० 12-8
36. "पित्तं पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते गच्छन्ति तत्र मेघवत् ॥" शार्ङ्गधरपूर्व० अ० 5-25
37. "शिरा धमन्यो नाभिस्थाः सर्वा व्याप्य स्थितास्तनुम् ।
पुष्णान्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः ॥"
—शार्ङ्गधर, पूर्व अ० 5-50
38. वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता, प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामाभिवोढ़ा, सर्वशरीर व्यूहकरः, सन्धावकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोजस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्ति प्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ।।—चरक सूत्र, अ० 12-8
39. "रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम् ।
स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ॥"
शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 6-9
40. अथ रक्तप्राधान्यं दर्शयन्नाह-रक्तमिति । तद्रक्तं सर्वशरीरस्थं भवति पाञ्चभौतिकत्वात्, यतः विस्रतां राग : स्यन्दनं लघुता तथा । भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोषिते इति । जीवस्योत्तममाधारश्चेति देहमूलत्वात् । तदुक्तं—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते' । तस्माद्यत्नेन सरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः, इति । पुनः कीदृशं तदाह-स्निग्धमित्यादि । स्निग्धमरुक्षं, गुरु अलघु, चलं नैकत्रस्थितशीलं द्रवत्वात् । स्वादु मधुरं स्वाभावात् यदा विदग्धं तदा पित्तवद्भवेत्-इति । यथा विदग्धं पित्तमप्यम्लतां व्रजेत् कटुकं च भवेत् तथेदमपीति भावः । उक्तमन्त्राऽपि 'अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः । शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥
शार्ङ्गधर, माढ़मल्लविरचिता दीपिका, पृष्ठ 70
41. "तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥"—सुश्रुत सू० अ०
42. "नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥"—सुश्रुत सू० 21-4

43. "देहस्य रुधिरं मूल रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ।।"—सुश्रुत सू० 15-44

44. रक्तरोगभेदाः—रक्तस्य च दशप्रोक्ता व्याधयस्तेषु गौरवम् । रक्तमण्डलता, रक्तनेत्रत्वं रक्तमूत्रता। रक्तनिष्ठीवनं रक्तपिटिकानां च दर्शनम् । औष्ण्यं च प्रतिगन्धत्वं पीडा पाकश्च जायते ।।

शर्ङ्गधर, पूर्वः 7-126

× × ×

अथ रक्तजानां रोगाणां विवरणमाह-रक्तस्येति। रक्तस्य रुधिरस्य व्याधयः मुनिभिर्दश प्रोक्ताः। तेषु व्याधिषु गौरवं कफजमिव रक्तस्यानुरूपतया भवति। तथा रक्तमण्डलता आरक्तमण्डलोत्पत्तिः। तथा रक्तनेत्रत्वं आरक्तलोचनता। तथा रक्तमूत्रता रक्तमूत्रत्वं तस्य रक्तजन्यन्वात् । रक्तनिष्ठीवनं रक्तमिश्रितनिष्ठीवनं रक्तस्यैव वा निष्ठीवनम् । तथा रक्तपिडिकानां च दर्शनम् । रक्तजा आरक्ता वा पिडकाः क्षुद्रस्फोटाः तेषां दर्शनं । औष्ण्यं उष्णत्वं रक्तस्यापि तैजसत्वात् । पूतिगन्धत्वं दुर्गन्धता सातु रक्तजैवात्र ग्राह्या नत्वन्यजा। तद्वत् पीडाऽपि। तथा पाकश्च मांसादीनां रक्तस्य वा इति दश रक्तजा रोगा व्याख्याताः ।।—शार्ङ्गधर, आठमल्लविरचित दीपिका, पृ० 108

45. द्वौ व्रणौ भवतः—शारीरः आगन्तुश्च। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः ।। सुश्रुत चिकि० अ० 1-3

× × ×

सुश्रुत चिकित्सास्थान अ 1-7

× × ×

शारीरास्तु अन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः, व्याधिग्रहणाद् वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः सर्व एव व्याधयो व्याख्याताः। सुश्रुत सू० अ० 2

46. अखलात की संख्या, अर्थ एवं निरुक्ति—यूनानी कल्पना के अनुसार अखलात (दोष) चार हैं। (1) दम व खून (रक्त वा शोणित), (2) बलगम (श्लेष्मा), (3) सफरा (पित्त), (4) सौदा। शरीर के ये चारों द्रव परस्पर मिश्रीभूत होते हैं इसलिए उनमें से प्रत्येक को खिल्त (मिश्र) कहते हैं। ये रक्त के साथ युगवत् सम्पूर्ण शरीर में संचार करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विकृत अवस्था में विकृत कार्य करते हैं।

—यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धान्त (कुल्लियात्), पृष्ठ 45

47. "दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः।" सुश्रुत सू० अ० 21-6

× × ×

एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु संचीयन्ते दोषाः।

सुश्रुत सू० अ० 21-18

× × ×

शोणितस्य स्थानं यकृत्पलीहानौ, तच्च प्रागभिहितं तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति। सु० सू० अ० 21-16

× × ×

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत्॥ सु० सू० अ० 21-17

48. "स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्द्रवेत्॥" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 6-9

49. ······वातरक्त तथाऽष्टधा॥ वाताधिक्येन पित्ताच्च कफाद्दोणत्रयेणच। रक्ताधिक्येन दोषाणां द्वन्द्वेन त्रिविधः स्मृतः॥

शार्ङ्गधर, पूर्व 103-104

50. "वायुः पित्तं कफो दोषाः······।"—शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-23

51. "वात, पित्त, श्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते आगारमिवस्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्यूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः।"—सुश्रुत सू० अ० 21-3

52. "विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥"—सुश्रुत सू० अ० 21-8

53. तत्र······रक्तं आंहुः तदादूष्यम्, दोषं इति केचित् उभयात्मक अन्ये।

अ० सं० सू० अ० 36

× × ×

······अन्य केचिद् आचार्या दोषं इति आहुः धान्वन्तरीयादयः,
······तथा अन्ये चरकादयः तद् रक्तं दूष्यं आहुः···अन्ये पुनः उभयरूपत्वं रक्तस्य आहः—इन्दु

54. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥ —चरक सू० अ० 17-74

× × ×

हृदयं चेतनास्थानमोजश्चाश्रयो मतम्॥—शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-49

55. "ग्रन्थयो नवधा मताः। त्रिभिर्दोषैस्त्रयो रक्ताच्छिराभिर्भेदसो व्रणात्। अस्थ्ना मांसेन नवमः॥"—शार्ङ्गधर, पूर्व अ० 7-67

56. शरीरदूषणाद्दोषा······।—शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-24

57. वर्षा शरद् वसन्तेषु वातादयः प्रकुप्यन्ते प्रामात्।

× × ×

"ग्रीष्मे संचीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति। वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति। हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति।"

शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 2-27-28

58. "यस्माद् रक्तं विना दोषैः, न कदाचित् प्रकुप्यति।
तस्मात् तस्य यथादोषं, कालं विद्यात् प्रकोपेण॥ सु० सू० अ० 21-26

59. त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च।
देहं सन्धारमन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः॥ सुश्रुत, अ० 66-6

60. शरीरे जायमानानां क्रियादीनां प्रवर्तकः। प्रकृतिं जनयेद् यस्तु विषमो रोगकारकः॥ समः संजनयेत् स्वास्थ्यं स दोषः परिकीर्त्यते॥
वातपित्तकफाज्ञेया एवं लक्षणलक्षिताः तस्मोदेते त्रयो दोषा चतुर्थो नास्ति कश्चन्॥—त्रिदोषविज्ञान अ० 4

61. "सप्त प्रकृतयोः भवन्ति दोषैः पृथक् द्विशः समस्तैश्च॥" सु० शा० 4/62
शार्ङ्गधर संहिता, पूर्वखण्ड अ० 6-20 से 22

62. समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः॥ पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्या-युर्बल वृद्धये। दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान्॥
चरक चिकि० 15-215 से 216

63. "वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।" चरक सू० 1-56

64. "वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः॥" अ० हृ० सू० 1-7

65. "वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः॥" सु० सू० 21-3

66. "वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः॥" भावप्रकाश पूर्व० 3-98

67. सर्व एवं खलु वात, पित्त, श्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषं अव्यापन्नोन्द्रियं बल वर्ण सुखोपपन्नं आयुषा महतोपपादयन्ति॥ चरक सू० अ० 12-13

68. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मोन्द्रियमवाः स्वस्थ इत्पभिधीयते॥ सुश्रुत उ० अ० 64

69. W. H. O. Health Defination = Will Being = physical, Mental & Social.

70. आरोग्यं दोषसमता सर्वाबाधनिबर्हणम्। काश्यपसंहिता खिल० अ० 5
बृद्धि-वर्ण-बलौजोग्नि-मेघाऽऽयु सुखकारणम्॥ काश्यपसंहिता सू० अ० 2

71. एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना॥ सुश्रुत सू० अ०

72. धातवस्तन्मला दोषा नाशयन्त्यसमास्तनुम्।
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च॥ शार्ङ्गधर, पूर्व० अ० 5-56

73. वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मलास्तथा।
तत्राऽपि पञ्चधा ख्याताः प्रत्येक देहधारणात्॥

शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात् ।
वातपित्तकफाः ज्ञेया मलिनीकरणा-मलाः ।।
शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-23 से 24

74. शरीरदूषणाद्दोषाः······। शार्ङ्गधर, संहिता पूर्वखण्ड अ० 5-24

× × ×

तेषां (स्रोतसां धातूनां च) सर्वेषां वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादीतो । चरक वि० 5-9

75. धातवोरसरक्तमांस मेदोमज्जाशुक्राणि स्वेदविष्मूत्राणि वातपित्तकफश्च्यो-च्यन्ते तेषामपि शरीरधारकत्वात् ।। सु० चि० अ० 5-29 उल्हन टीका

× × ×

धातवो हि देहधारण सामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्यन्ते ।
अ० सं० सू० 10, इन्दु टीका

76. इत्थं अधो-मध्य-ऊर्ध्व सन्निवेशिना दोषत्रयेण शरीरम् आगारं इव स्थूणात्रि-तयेन स्थिरीकृतम् । अतश्च दोषाः देहास्थिरीकरणात् 'स्थूणा' इति उच्यन्ते, धारणात् धातवः ।। अ० स० सू० 20

× × ×

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्यातुरपरायणम् ।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ।। चरक सूत्र अ० 1-24

× × ×

······धातवो देहधारणात् ।। शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड, अ० 5-24

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके ।।
सुश्रुत सू० अ० 21-3

77. मलिनीकरणात् आहारमलत्वात् च मलाः । अष्टांगसंग्रह सू० 20

× × ×

वातपित्तकफाः ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः । शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-24

80. वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।। चरक सूत्र अ० 1-57

81. सत्वं लघु प्रकाशकम्...... सांख्यकारिका वृत्ति 12-13

× × ×

सत्वं प्रकाशकम्...... । काश्यपसंहिता सू० 28

82. रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्राणि धातवः ।।
शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-11

83 जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम् ।
कर्णं विड्रसनादत्तकक्षामेद्रादिजं मलम् ॥
नखनेत्रमलं वक्त्रे स्निग्धत्वं पिटिकास्तथा ।
जायन्ते सप्तधातूनां मलान्येतान्यनुक्रमात् ॥

शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 5-13 से 14

84. 'स्वरूपं हि वातादीनां कार्यगम्य एव ।' चक्रपाणि चरक सू० 28

85. शार्ङ्गधर संहिता, पूर्वखण्ड अ० 3 ।

86. शेखुर्रईस ने यूनानी वैद्यक के समस्त प्रतिपाद्यों को निम्न पंक्तियों में समासरूपेण एकत्र संग्रहीत कर दिया है । यूनानी वैद्यक में निम्न विषयों का प्रतिपाद किया जाता है । अरकान (महाभूत), मिजाजात (प्रकृतियाँ), अखलात (दोष), अजाएमुरक्कबा (संमिश्रावयव), अरवाह (प्राण और ओज), कवाए तबइय्या, कुबाए हैवानिया और कुवाए नक्सनिया (विविध बल), अक्आल (शरीरक्रियाकर्म) स्वस्थास्वास्थ्य एवं तन्मध्यवर्ती (हालत सालेस) अवस्था दृष्टया शारीरिक अवस्था…… ।

यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धान्त, ले०—वैद्यराज हकीम, डॉ० दलजीत सिंह व रामसुशीलसिंह शास्त्री, पृ० 15

87. मलाशये चरेत्……वायुः पञ्च प्रकारतः ॥ शार्ङ्गधर अ० 5-27

× × ×

पक्वाशय……स्थानं वातस्य……। अष्टांगहृदय—सू० 12-1

88. 'अग्न्याशये भवेत्पित्तं अग्निरूपं विलोन्मितम्' ॥ शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-27

89. 'कफश्चामाशये…… । शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-33

× × ×

'आमाशयः श्लेष्मणः ।' सु० सू० 21-6

90. 'पत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायियत् तद्रव्यम् ।' चरक सू० अ० 1-51

91. आयुर्वेदीय क्रियाशरीर, ले०—रणजीतराय देसाई, पृष्ठ 178 ।

92. 'कारणनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्म विशेषः शक्तिः' —नैयायिक

93. 'अर्थस्मृत्यनुकूलः पद पदार्थ-सम्बन्धी वृत्ति-विशेषः शक्तिः' —वैयाकरण

94. 'रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रुक्षो लघुश्चलः ।'

शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-29

95. 'पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्वगुणोत्तरम् ॥' शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-29

96. 'कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा ।' तमोगुणाधिक…

शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-33

97. 'पवनस्तेषु बलवान्विभागकरणान्मतः ।' शार्ङ्गधर पूर्व० 5-26 ।

98. 'त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ॥' शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-30

99. 'कफ······। तिष्ठन्करोति देहस्य स्थैर्यं सर्वांगपारवम् ॥'

शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-34

100. 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् । ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरु-भयस्य तु ।

चरक—सू० अ० 1-44

101. 'पित्तभाग्नेयम्······' का० सं० खिल स्थान—अ० 1-53 ।

× × ×

'आग्नेयं पित्तं ।' अ० सं सू० 20

102. 'सौम्यः शीतो गुरुः स्निग्धो बलवान् कफको बहु······।'

का० सं० खिल स्थान अ० 1-58

103. पित्तं पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।।' शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-25

104. 'स्वीकृते च शक्त्याधारभूते द्रव्ये कर्तुत्वमपि द्रव्यस्यैव कथ्यते यथाऽग्निर्दहति पोषयत्यन्नमिति । यथा दाहिका शक्तिर्दहति, पोषण शक्तिः पोषयतीत्यादिप्रयोगो न दृश्यते तथैव वातादीनां शक्तिरुपत्वे वायुः शोषयति, पित्तं पचति, श्लेष्मा गौरवमादधातीत्यादयो न भवितुमर्हन्ति प्रयोगाःकिन्तु मेषां शक्तिभूता वातादस्यस्तेषामेव कर्तुत्वं वाच्यं स्थादिति ।'

—त्रिदोष विज्ञान—कविराज उपेन्द्रनाथदास, अ० 5, पृ० 40-41

105. 'शक्तिप्रधानस्य द्रव्यस्य शक्तिरूपत्वं यदि शास्त्रादिविरुद्धं कल्पपितुमिष्यते तर्हि रक्तशुक्रादिप्रत्यक्षद्रव्याणामपि शक्तिरूपत्वं वाच्यमेव । एक एव भुक्रकीटो यदि शरीरस्य सर्वावयवानन्तर्ग्रहीतुं शक्नोति तथाविधशक्तिशालिनः कथं न शक्तिसंज्ञेति वाच्यम् ।।'

त्रिदोष विज्ञान, ले०—कविराज उपेन्द्रनाथदास, अ० 5, पृ० 42

106. 'अपरञ्च शक्तिप्रधानस्य यदि केनचिदायुर्वेघृतामित्यादिवच्छक्तिस्वरूपत्वमुपचर्यते न तेनैवोपचारेण द्रव्यमपि शक्तिस्वरूपं भवतीति ।'

—त्रिदोष विज्ञान, ले०—कविराज उपेन्द्रनाथदास, अ० 5, पृ० 42

107. 'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे ।'—चरक सूत्र—अ० 26-10

108. 'वाय्वाकाशाभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तं, अम्भप्रथिवीभ्यां श्लेष्मेति ।।'

अ० सं० सू० 20

109. 'खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः । सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'—चरक सू० अ० 1-48

110. 'त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेत् अवकाशांशमहारस्याहारमुपयुंजानःतद्यथा एकमवकाशांशंमूर्त्तानामाहारविकाराणाम् एकं द्रवाणाम् एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्

एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहाराजं किंचिदशुभं प्राप्नोति' ।।
चरक वि० अ० 2-3

111. 'षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य।'

112. 'देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो वलि।' चरक चिकि० 28-17

113. 'वायुः पित्तं कफो दोषा।' शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-23।

× × ×

'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।'—चरक सू० अ० 1-57

× × ×

'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।' अ० हृ० सू० अ० 1-6

114. 'दोष-धातु-मलमूलं हि शरीरम्।' सु० सू० अ० 15-3

115. 'दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीर सम्बन्धं शरीरे दृश्यन्ते, त एव संयुक्ता देह इति यावत्।' इन्दु (अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 28 की टीका)

116. 'दोष-धातु-मलमूलो हि देहः।' अष्टाङ्गसंग्रह अ० 19

117. 'स्वभावतो हि अस्य (गर्भस्य) वायुपरमाणवः संयोग-विभाग-चेष्टा-अधिकाराः, आकुंचन-प्रसारण-कोष्ठांग-धातु-चेतनास्रोतांसि विभजन्ति।'
काश्यसंहिता-शारीर-जातिसूत्रीय-1

118. 'पित्तमाग्नेयमुष्णं च तीक्ष्णं अल्पलघु, द्रवम्।'
का० सं० खिल स्थान अ० 1-53

119. '·· गौरवं च स्थैर्यं च मूर्तिश्च पार्थिवानि भवन्ति।'
का० सं० गर्भावक्रान्ति शरीराध्याय-4

120. 'तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः।' चरक शारीर स्थान अ० 5-5

121. "रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि।"
चरक सू० 20/11

122. "औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि।" चरक सूत्र० अ० 20-14

123. 'स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्सर्याणि श्लेष्मरूपाणि ।।'
चरक सू० अ० 20-18

124. 'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च।'—सुश्रुत निदान अ० 1-7

125. "स्वरूपं हि वातादीनां कार्यगम्यमेव।" चक्रपाणि चरक सू० 28

126. "दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ।।" शार्ङ्गधर उत्तरखण्ड अ० 4-5।

127. "···गुण गुणिनो हि परमार्थतः भेदः न अस्ति एव अस्मिन् दर्शते ।।"
चरक श० 1/63-64 चक्रपाणि टीका

128. "वात-पित्त-श्लेष्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर अनुमान होता है कि पंच

महाभूतों के उपादान से निर्मित होने पर भी और द्रव्य श्रेणी में परिगणित होने पर भी, सजीव देह में गतिरूप, उष्मारूप और ओजोरूप में रहने वाले ये सत्तात्मक भाव शक्तिमय तो हैं ही, ऐसा प्रतीत होता है कि देहधारण कर्म के समय में प्रबल शक्तिमय अणुरूप, दूषण कर्म के समय सूक्ष्म स्रोतोगामी एवं मध्यम परिमाण विशिष्ट तथा मलभूत होकर ये स्थूल द्रव्य का रूप ग्रहण करते हैं।"—प्राकृत दोष विज्ञान, ले० निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार, पृष्ठ 76

129. 'द्रव्यत्वमनिलादीनां शास्त्रकारैः प्रकीर्तितम् ।
शक्तिरूपत्वमेतेषां प्रागणेन न सिध्यति ॥
द्रव्याणां नहि सर्वेषां प्रत्यक्षं सर्वदा सर्वता भवेत् ।
वैज्ञानिकान्न भेतव्यं भिषाग्भिः शास्त्रततपरैः ॥
—त्रिदोष विज्ञान, ले० कविवर उपेन्द्रनाथदास, अ० 5, पृष्ठ 43

130. शक्तेः द्रव्य-अधिष्ठितत्वेन स्वतन्त्र-अवस्थितत्व-अभावात् वातादीनां न शक्तित्व किन्तु द्रव्यत्व एव। पित्तकफयोरवस्थाभेदेनस्थूलत्वम्। (चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वम्) सूक्ष्मत्वम् (चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वम्) च वायोस्तु कफपित्तापेक्षया सूक्ष्मत्वम्, अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च इत्यभिधानात् ॥
—त्रिदोष चर्चा परिषद् सन् 1935 बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

131. गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च । चरक सूत्र 17-115 ।

132. द्विविधा वातादयः प्राकृता वैकृताश्च, तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः शरीरैकजन्मानः, ते शरीरधारणाद् धातुसंज्ञका विकृतानां दोषाख्यानां बीज-भूताः मुमूर्षोः स्वरूपाच्चलन्ति, सर्वेष्वपि च देहे सन्निहितेषु प्रकृतावुल्वणेन व्यपदेशः।—अ० सं० शा० अ० 8-1

133. "प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥
विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत् प्रकृतयो मर्त्यं शक्तुवन्ति न बाधितुम् ॥" सु० शा० 4-78-79

134. शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जीयते तेन।
सु० शा० 4-63

× × ×

शुक्रशोणित प्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिं, मातुराहारप्रकृतिं, महाभूतविहार-प्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेन वा समनु-बध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते, ततः सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्मात् श्लेष्मालाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित् समधातवः केचित्।—चरक वि० 8-95

135. वैकृतास्तु गर्भादिभिनिसृतस्य आहारमलाः सम्भवन्ति प्राकृतेषु अवरोहन्ति, ते कालादिवशेन स्वप्रमाणवृद्धिक्षययोगाद् देहं अनुग्रह्णान्ति दूषयन्ति च।
अ० सं० शा० 8

136. वायुः पुनः भग्नेः आहारस्य च बहु-अल्पतया तस्मात् तस्मात् मूर्च्छना विशेषाद् अमूर्तः शब्दवान् ईषत् शब्दः प्रचुरः अल्पो वा पंचात्मा कोष्ठे प्रादुर्भवति ।।
अ० सं० शा० अ० 6

137. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्टवा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ।
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।
प्रीणयन्देहमखिलं जीवयञ्जठरानिलम् ।।

शार्ङ्गधर पूर्व० 5-51

138. "वायुना यत्र नीयन्ते गच्छन्ति तत्र मेघवत् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-25

139. शरीरधातवः पुनर्द्विविधा संग्रहेण—मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युः । तद्यथा—शरीरछिद्रेषुपदेहा पृथग्जन्मानो बर्हिमुखाः परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्मणः, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातामोपपद्यन्ते, सर्वान्तान् मले संचक्ष्यमेह, इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवन्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रन्तान् द्रव्यभेदेन ।। चरक शा० 6/16

140. संग्रहेण संक्षेपेण । तेन विस्तेरण धातूपधात्वादिविभागेन बहवश्च भवन्ति । भूतशब्दः स्वरूपे । अवाधकरा इति पीड़ाकरा इत्यर्थः । पृथग्जन्मान इति पिचोलिकासिंघाणकादिभेदेन नानारूपाः । बर्हिमुखा इति य एवच्छिद्रमलाः प्रभूततया बर्हिनिः सरणाभिमुखाः, त एव पीड़ाकर्तुत्वेन मलाख्याः, ये तु स्रोतउपलेपमात्रकारकास्तु गुणकर्तृतया न मलाख्याः । परिपक्वाश्च धातव इति पाकात् पूयतां गताश्च शोणितादयोऽपि मलाख्याः । किंवा अपरिपक्वाश्चेति पाठः, तदा सामा धातवो मलाख्या इति ज्ञेयं । कुपिताश्चेति पदेन वातादयः सामान्येन क्षीणा वृद्धाः वा गृह्यन्ते, विकृतिमात्रं हि वातादीनां कोपः । ये चान्येऽपीत्यादिना विमार्गगतान् पीड़ाकारकान् शरीरधातून् तथाऽजीर्णादीन् ग्राहयति । मल इति एकवचनं जातौ । इतरानिति न विकारकान् स्वमानस्थितपुरीषवातादीन् । पुरीषवातादयोऽपि शरीरावष्टम्भकाः प्रसादा एव गुणकर्तृत्वात् ।। —चक्रपाणि

141. "मलप्रसादभेदेन शरीरगतभावानभिधाय पुनर्द्रव्यगुणभेदेनाह—दुर्वादींश्चेत्यादि । गुर्वादयो द्रवान्ताः पश्चादुक्ता एव । अत्र च ये मला उपधातवश्च नोक्तास्ते गुर्वादिगुणाधारत्वेन ग्राह्याः । किंवा इतरांस्तु

निराबाधान् मलादीन् प्रसादे संचक्ष्महे तथा गुर्वादींश्च तथा रसादींश्च निर्विकारान् द्रव्यगुणरूपान् प्रसादे संचक्ष्महे ।।"—चक्रपाणि

142. **दोषों के दो वर्गों—मल और प्रसाद सम्बन्धी अनायुर्वेदीय कल्पना :** नवीन पद्धति से विद्या लाभ किये वैद्यों में प्रत्येक दोष के दो वर्ग मानने की कल्पना बद्धमूल-सी हो गयी है । उनके मत में प्रथम तो प्रत्येक दोष के अनेकानेक प्रकार हैं। इन प्रकारों में एक-एक प्रकार मलरूप, स्थूल तथा शेष प्रसाद रूप या सूक्ष्म हैं । कास या वमन में निकलने वाला पीला, तिक्ताम्ल-रस द्रव्य, जो पित्त नाम से ही जनता में प्रसिद्ध है। मलभूत स्थूल पित्त है एवं गुदद्वार से प्रायः सशब्द निकलने वाला वायु स्थूल मलभूत वायु है। दोषों के शेष भेद सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, कार्यगम्य (केवल अपने कार्य से जाने जा सकने योग्य अनुमेय) तथा प्रसाद भूत हैं ।

जहाँ तक मैं जानता हूँ मूल आयुर्वेद में दोषों के ऐसे दो विभाग या व्यूह नहीं हैं। दोषों के उक्त दो व्यूह मानने का प्रारम्भ कदाचित् म० म० गणनाथसेन जी के सिद्धान्त निदान में की गयी स्थापना से हुआ है। कोई-कोई विद्वान् तो आगे बढ़कर वात, पित्त, कफ के कुछ भेदों का मूलरूप, कुछ को प्रसाद या धातुरूप, कुछ को दोषरूप मानते हैं। मेरी नम्र मति में ये अनायुर्वेदीय कल्पनाएँ आयुर्वेदीय हैं।

क्रियाशरीर, ले० रणजीतराय देसाई, पृ० 63

143. "रसो भवति संपक्वादपक्वादामसंभवः।"

—शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड अ० 6-3

144. "क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।।" चरक सू० 17/110

145. क्षयं वृद्धि समत्वं च तथैवावरणं भिषक् ।। चरक चिकि० 28-248

146. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
हासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिकभयस्य तु ।। चरक सू० 1/44

× × ×

"जायन्ते हेतुवैषम्याद विषमा देहधातवः ।
हेतुसाम्यात् समाः·········।" चरक सू० 16/27

× × ×

धातवः पुनः शरीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽव्याहारविकारैरभ्य-स्यमानै वृद्धि प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्या-हारैश्भ्यस्य मानैः ।।

चरक श० 6/8

× × ×

समाना स्व परं गुणा यस्य तत् समानगुणं, यथा मांसं मांसस्य, समानगुण-

भूपिष्ठं यदल्पसमागुणं, यथा शुक्रस्य क्षीरम्। क्षीरस्यातिद्रवत्वाच्छुक्रेऽल्पसमानगुणम्। अभ्यस्यमानैरित्यनेन सकृदुपभोगाद् वृद्धि ह्रासं च निषेधयति ॥
—चक्रपाणि

147. ''''''प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्। तस्मादेष प्रकृति भावे प्रयतितम्यं बुदिभ्मर्दिभरिति ॥ च० शा० 6/18

148. स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्। क्षपयेद् वृंहयेच्चाणि दोषधातुमलान् भिषक् तावद् यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ॥
सु० शू० 15/40

149. "पवनः रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रुक्षो लघुश्चलः।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-26

150. "कुपितस्तु खलु शरीरं''''''भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति।"
चरक सू० 12-6

151. "रजो बहुलो वायुः।" सुश्रुत—शरीर अ० 1-20

152. "वायुरेव हि सूक्ष्मत्वात् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।" चरक चिकित्सा अ० 28-58

153. अनुष्णः शीतः पृथ्वीवाय्वोः। तर्क संग्रह

154. "योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥"
चक चिकित्सा अ० 3-37

× × ×

"पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्।
दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे......।
अष्टांगहृदय निदान अ० 2-36 व 37

× × ×

155. "वातगुणेषु सर्वेषु रौक्ष्यं प्रधानम् ॥ सुश्रुत सू० अ० 6 उल्हण टीका

156. "''''''रुक्षः''''''वातप्रकृतिको नरः।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 6-20

157. (क) "''''''कृशः वातप्रकृतिको नरः ॥ शार्ङ्गधर पूर्व अ० 6-20
(ख) दृष्टव्यं चित्रसंख्या—

158. ''''''चलं च रजः। —सांख्यकारिका

159. पित्तं पङ्गु कफः पङ्गु पंङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥ शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-25

160. "हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा।
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि कजं वाक्स्तम्भमेव च ॥"
चरक चिकित्सा अ० 28-52

161. "अधोगमाः सतिर्यग्गमा धमनीरुर्ध्वदेहगाः।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रदह्यते ॥

तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ।।" सुश्रुत निदान अ० 1-60-61

162. "······वाचालश्चलमानसः ।······वातप्रकृतिको नरः ।।"
शार्ङ्गधर पूर्व 6-20

163. "रुक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणाः भवन्ति ।।
चरक सू० अ० 12-4

× × ×

"रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।। चरक सू० अ० 1-59

164. "······रुक्षः शीतो लघुः खरः । तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।।"
सुश्रुत नि० अ० 1-7 व 8

165. "वातः कटूरुक्षतरश्चलात्मा ।" कल्याणकारके, पृष्ठ 40

166. "दारुणत्वं चलत्वं, यद्वा दारुणत्वं शोषणात् काठिन्यं करोति ।"
चरक वि० अ० 8 की चक्रपाणि टीका

167. "मलाशये चरेत्कोष्ठे बह्निस्थाने तथा हृदि ।
कण्ठे सर्वांगदेशेषु वायुः पञ्चप्रकारतः ।।"
शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-27

168. "सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।" चरक सू० 17-118

169. "वायुरायुबलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्चकीर्तितः ।"
चरक चिकित्सा अ० 28-2

170. "उत्साहोच्छ्वास-निश्वास-चेष्टा-धातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम् ।।" चरक सू० 18-49

× × ×

"वायुस्तन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता चा मनसः सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा सर्वशरीर धातुव्यूहकरः सन्धानकरः शरीरस्य प्रवर्तको वाचः प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं हर्षोत्साहयोर्योनिः समीरणोऽग्नेः संशोषणो दोषाणां क्षेप्ता वहिर्मलानां स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता कर्त्ता गर्भाकृतीनामायुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ।।"
चरक सू० अ० 12-8

171. "इन्द्रियार्थोपसम्प्राप्ति दोष—धात्वग्न्यवैकृतिम् । क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद्वायुरदूषित । दोषधात्वाग्निसमतां सम्प्राप्तिं विषयेषु च । क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ।।" सुश्रुत निदान अ० 1-10

172. "तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारपति ।।" सुश्रुत सू० 15-4

173. "सर्वा एव तु अवयवा: परमाणुभेदेन अतिसौक्ष्म्यात् असंख्येयतां यान्ति तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कर्मप्रेरितो वायु: कारणम् ।" अष्टांगसंग्रह शा० 5

× × ×

"तं उच्छ्वास-निश्वास-उत्साह-प्रस्पन्दन-इन्द्रिय पाटव-वेगप्रवर्तन-आदिभिर्वायुरनुगृह्णाति ।।" अष्टांगसग्रह सू० अ० 19

× × ×

"उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तकै:। सम्यग् गत्या च धातूनां अक्षाणां पाटवेन च अनुग्रह्णात्यविकृत: ।।"

अष्टांगहृदय सू० अ० 11-1 व 2

174. "मधूच्छिष्टमयं पिण्डं चिन्वन्ति भ्रमरा यथा ।
तथा कोष्ठेषु पवनो धातूस्तान् विचिनोत्यपि ।।
प्रभुर्हि सर्वभूतानां वायु प्राणेश्वरो बली ।।"

भेलसंहिता चि० अ० 5-8

175. "वायुर्हि कालसहित: शरीरं विभजति संदधाति च ।"

काश्यपसंहिता शरीर—भगविक्रान्ति

× × ×

"तथा कफस्य पित्तस्य मलानां च रसस्य च ।
विक्षेपणे संहरणे वायुरेवात्र कारणम् ।।"

काश्यप संहिता खिल० अ० 8-4 व 5

176. "मलाशये चरेत्कोष्ठे वह्निस्थाने तथा हृदि ।
कण्ठे सर्वांगदेशेषु वायु: पञ्चप्रकारत: ।।" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27

177. "अपान: स्यात् समानश्च, प्राणोदानौ तथैव च ।
व्यानश्चेति शरीरस्य तामान्युक्तान्यनुक्रमात् ।।"

शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-28

178. चरक सूत्र अ० 20-8, अष्टांगहृदय सू० अ० 12-1 ।

179. काश्यपसंहिता सू० अ० 27-10-12 ।

180. (क) "प्रच्छर्दन विचारणाभ्यां वा प्राणस्य ।" योगसूत्र
(ख) यमनियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधोऽष्टावङ्गानि । योगदर्शन 1-2
······श्वासप्रश्वासयो: गतिविच्छेद: प्राणायाम: ।

181. "श्रोणिगुदसंश्रय:, तदुपर्यधो नाभे: पक्वाशय: ।" सुश्रुत सूत्र अ० 21-6

182. "तद्धि (वस्तिकर्म) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनन्ति ·····।।" चरक सू० अ० 20-13

183. (क) "पक्वाशयकरीसक्थिश्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेंद्रियम् ।।"

अष्टांगहृदय अ० 12-1

× × ×

(ख) "अपानस्त्वपानास्थितो बस्तिश्रोणिमेढ्वृषणवक्षणोरुचरः ।।"

अष्टांगसंग्रह सू० 20-2

184. "मलाशये चरेत्कोष्ठे बह्निस्थाने तथा हृदि ।
कण्ठे सर्वांगदेशेषु वायुः पंचप्रकारतः ।।" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27

185. (क) व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगवत् सर्वतोऽजस्रं विक्षिप्यते सदा ।।" चरक चिकित्सा अ० 19

(ख) "उदानस्य पुनः स्थानं कण्ठ एव च ।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णादि कर्म च ।।" चरक चिकि० 28-6

186. "मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च पत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयत् पक्वोऽधिशीर्षतः ।।" अथर्ववेद 10-2-26

187. "बस्तिः पुरीषाधान कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयोः विशेषेण वातस्थानम् ।।" चरक सू० अ० 20-8

188. "तत्र पक्वाशयः कटिः सक्थिनी पादावस्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वातस्थानानि अत्र च पक्वाशयो विशेषेण ।।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-1

× × ×

"पक्वाशयं-कटी-सक्थि-श्रोत्रास्थि-स्पर्शनेन्द्रियम् ।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ।।"

अष्टांगहृदय सू० अ० 12-1

189. "सर्वगानामपि सतां प्रायः स्थानं च कर्म च ।
अधोनाभ्यास्थिमज्जानौ वातस्थानं प्रचक्षते ।।"

काश्यपसंहिता सू० अ० 27-10

× × ×

"आम पक्वाशयौ स्थानं विशेषात् पित्तवातयोः ।।"

काश्यपसंहिता सू० अ० 27-12

190. "······पक्वाधानगुदालयः ।।" सुश्रुत निदान अ० 1-8

191. "शोणीकटीवंक्षणगुप्तदेशे । वायुः स्थिति सर्वशरीरसारी ।
दोषांश्च धातून् नयति स्वभावात् । दुष्टः स्वयं दूषयतीहदेहम् ।।"

कल्याणकारक—सूत्रव्यावर्णनम् 51 तृतीय परिच्छेद

192. "······वायुः पंचप्रकारतः । अपानः स्यात् समानश्च, प्राणोदानौ तथैव च ।
व्यानश्चेति शरीरस्य नामान्युक्तान्यनुक्रमात् ।।"

शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27 व 28

193. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानेनाभिमण्डले।
उदानाकण्ठदेशेस्माद् व्यानः सर्वशरीरगः। —अमरकोश

194. "प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पंचधा।
देहे तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन्॥" चरक चिकित्सा अ० 28-4

195. "त ऐते प्रत्येकंपंचधा भिद्यन्ते तद्यथा-प्राणोदान-व्यान-समानापानभेदैर्वायु।"
अष्टांगसंग्रह—सू० अ० 20-2
"प्राणादिभेदात्पंचात्मा वायुः॥" अष्टांगहृदय सू० अ० 12-4

196. "ऊर्ध्वगोऽत्राप्युदानः स्याद् व्यानस्तिर्यग्विवृद्धिकृत्।
प्राणो न्यस्यत्यपानं तु प्रवर्तयति देहिनाम्।
समानो धारणश्चैव संग्रहणाति स देहिनाम्॥"
भेलसंहिता सूत्र अ० 16-14 व 15

197. "......अनिलस्तथा ह्येको नामस्थान-क्रियाऽऽमयैः॥
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पंच यापयन्ति शरीरिणम्॥"
सुश्रुत नि० अ० 1-11 व 12

198. "हृदि प्राणः।" शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-27 व 28

199. "हृदयं चेतनास्थानभोजसश्चाश्रयो मतम्॥" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-49

200. "नाभिस्थः पवनः प्राणः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद् बहिर्विनिर्भाति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्वरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणमन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥ शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-51

201. "यद्वै प्राणिति स प्राणः।" छान्दोग्य उपनिषद् अ० 1-3-3

202. "स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः कर्णजिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च॥" चरक चिकित्सा अ० 28-5

203. "यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥" सुश्रुत नि० अ० 1-13

204. "प्राणः प्रीणाति भूतानि प्राणो जीव इति स्मृतः॥"
भेलसंहिता सूत्र अ० 16-19

206. "उदानः कण्ठे।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-27

207. "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति ततः प्रेश्यति मारुतम्॥"
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।

वर्णान् जनयते······················।" पाणिनी शिक्षा

× × ×

"अष्टौ स्थाननि वर्णानानुसार: कंठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥" पाणिनी शिक्षा

208. "उ ए चासौ चोण्णोऽयमुण्णीऽसौ स्वर इतीममाच।
चक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्युमुंतस्माद्वा एतामिममुंचोद्गीथमुवासीत्॥
छान्दोग्य उपनिषद् पृ० 3-2

209. "उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च। वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णादि कर्म च॥" चरक चिकि० 28-6

210. "उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥" सुश्रुत नि० अ० 1-14 व 15

211. "यच्चान्यदूर्ध्वगं जन्तोस्तदुदानस्य चेष्टितम्॥"
भेलसंहिता--सू० अ० 16-20

212. "उदान उरस्यवास्थितः कण्ठ-नासिका-नाभिचरो वाक्प्रवृत्ति-प्रयत्न-ऊर्जा-बल-वर्ण-स्रोतः प्रीणन-धी-घृति-स्मृति-मनोबोधनादिक्रियः॥"
अष्टांग संग्रह—सू० 20-2

× × ×

"उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृति क्रियः।"

अष्टांगहृदय सूत्र अ० 12-5 व 6

213. "समानः कोष्ठे बह्निस्थाने" शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-27 व 28

214. "समानो नाभिदेशे स्यात्"
शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 5-27 व 28 (दीपिका टीका)

215. ततः समानमरुता गृहणीमभिनीयते। पक्वामाशयमध्यस्था गृहणीत्यभिधीयते। गृहण्यां पच्यते कोष्ठवह्निना जायते कटुः। रसो भवति संपक्वाद्···। शार्ङ्गधर पूर्व अ० 6-2 से 4

× × ×

"ततस्तस्मात्स्थानात् समानमरुता नाभिगतवायुना कृत्वा गृहणीं वह्निस्थान भिनीयते प्राप्यते आहार इति।" शार्ङ्गधर पूर्व 6-2 (दीपिका टीका)

216. "रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः" शार्ङ्गधर पूर्व-6-8

217. "पंचदश कोष्ठांगानि, तद्यथा-नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधारश्च आमाशयश्च पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च अधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्जम् च वपावहनं चेति।"

चरक शा० अ०7-10

218. मात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः। माधुर्यं केनभावं च षड्रसोऽपि लभेत सः।"
शार्ङ्गधर पूर्व अ० 6-1

219. अथ पाचकपित्तेन विदग्धश्चाम्लतां व्रजेत्।...
शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 6-2

220. "ततः समानमरुता ग्रहणीमभिनीयते ...। शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड अ० 6-2

221. "अन्तः अग्ने स्थानं आमाशय—पक्वाशयोर्मध्यं नाभेः अर्धांगुलमात्रेण वामपार्श्वो।"
अष्टांगसंग्रह सू० 20, 2 इन्दु टीका

222. "स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तराग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबल प्रदः॥"
चरक चिकित्सा अ० 28-7

223. "आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषाचिनक्ति हि।"
सुश्रुत निदान अ० 1-16

224. "समानोऽन्तराग्निसमीपस्थस्तत्सन्धुक्षणः पक्वाशयदोषमलशुक्रार्तवाम्बुवहः स्रोतोविचारी तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टधोनयनादिक्रियः॥"
अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20

× × ×

"समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुँचति॥" अष्टांगहृदय 12-8

225. "समानो धारणश्चैव संगृह्णाति से देहिनाम्॥ भेलसंहिता सूत्र 16-15

226. (क) "सर्वाङ्गदेशेषु व्यानः" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27 व 28
(ख) "व्यानः सर्वशरीरगः।" अमरकोश

227. "नाडिमुखेषु वितनात् व्यानः।" तर्कसंग्रह

228. "स तु व्यातेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्।"
सु० सू० अ० 46-528

229. "तत् (जलं) अग्निमारुतोद्विद्धं कूपकैः स्वेद उच्यते॥"
काश्यपसंहिता-शारीर-शारीरविचय शरीराध्याय-33

× × ×

"कूपके कूपके चापि विद्यात् सूक्ष्मं सिरामुखम्।
प्रस्विद्यमानस्तैः स्वेदो विमुंचति सिरामुखैः॥" वही, 27

230. "देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्र गतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा।" चरक चिकित्सा 28-8

× × ×

"व्यानेन रस धातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगवत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।" चरक

231. "कृत्स्नचदो व्यानो रससंवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पंचधा चेष्टयत्यपि।"
सुश्रुत निदान -1-17 व 18

× × ×

"पंचधा चेष्टयत्यपि इति प्रसारण - आकुंचन - विनमन - उन्नमन तिर्यग्गमनाग्नि इति पंच चेष्टाः ।।" गयदासाचार्य

232. "व्यानः शरीरचेष्टां च निमेषोन्मेषणानि च।" भेलसंहिता अ० 16-20

233. "व्यानः प्राधान्येन हृद्यवस्थितः कृत्स्नं निखशेषं देहं चरति प्राणाद्यपेक्षया शीघ्रतरगतिः।" अष्टांगहृदय सू० अ० 20 की इन्दु टीका

× × ×

"व्यानो हृदिस्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः।
गत्यक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः।
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ।।"
अष्टङ्गहृदय सू० अ० 12-6 व 7

× × ×

"व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः शीघ्रतरगतिर्गति-प्रसारण-आकुंचन-उत्क्षेप- अवक्षेप- निमेष- उन्मेष- जृम्भण- अन्नास्वादन- स्रोतोविशोधन - स्वेदासुक्स्रावण-आदिक्रियो योनौ च शुक्रप्रतिपादनो विभज्यचान्नस्य किट्टात् सारं तेनं क्रमशो धातूंस्तर्पयति ।।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-2

234. अपानयति अपसारयति मूत्रादि अप+आ+नी—उ अपसारयति अधोऽनिति गच्छति वा अप+अन+अच् वा मूत्रादेरधो नयनशीले गुह्यदेशस्ये 'अधो-नयनत्यपानस्तु आहारञ्च नृणां पुनः ।।"
तित्युक्तलक्षणे मूत्रशुक्रवहोवायुंरपान् इतिकीर्त्तते वाचपत्यम्, पृ० 244

235. "मलाशये अपानः" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27

× × ×

"गुदे अपान." शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-27 दीपिका टीका

236. "वृषणौ वस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरु वंक्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्र-मूत्र-शकृन्ति सः। सृजत्यार्तव-गर्भौ च ।।"
चरक चिकि० 28-9 व 10

237. "पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाऽप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः ।।" सुश्रुत नि० अ० 1-19

238. "अपानस्त्वपानस्थितो वस्तिश्रोणिमेढ्रवृषणवंक्षणणोरुचरो विण्मूत्र-शुक्रार्तवगर्भनिष्क्रमणादिक्रियः ।।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-2

× × ×

"अपानोऽपानगः श्रोणिवस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
प्राधान्येन शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥"
अष्टांहृदय सू० अ० 12-9

239. "गुदमाध्मापयत्येष देहं यस्य च सर्वशः।
एषु प्रतिष्ठितो वायुरपान इति संज्ञितः।"
भेलसंहिता मूत्र अ० 16-21 व 22

240. "अपान कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति"—योगचिन्तामणि, पृ० 13

241. "आग्नेयं पित्तम्" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-1।

242. "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।
जायन्तेऽन्योन्यतः सर्वे पाचिताः पित्ततेजसा।
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसंभवः।
शार्ङ्गधर पूर्व० 5-11 व 12

243. "पाचिताः पित्ततापेन रसाद्या धातवः क्रमात्।
शुक्रत्वं यान्ति मासेन तथा स्त्रीणां रजो भवेत् ॥ शार्ङ्गधर पूर्व० 6-10

244. "पित्तसुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्वगुणोत्तरम्।
कटु तिक्तरसं ज्ञेयं··· ·················। शार्ङ्गधर पूर्व० 5-29

245. "······विदग्धं चाम्लतां व्रजेत् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व० 5-29

246. "सस्नेहमुष्णंतीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।।" चरक सूत्र 1-60

247. "पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥" सुश्रुत सू० अ० 21-11

248. "कट्वम्ललवणैस्तुल्यान् तथा पित्तगुणान् विदुः।" भेलसंहिता वि० 1-16

249. "पित्तमाग्नेयमुष्णं च तीक्ष्णमल्यं लघु द्रवम् ॥"
काश्यपसंहिता खिल स्थान—1-53

250. "पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रव।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 1-11

251. "अग्न्याशये भवेत्पित्तं अग्निरूपं तिलोन्मितम्।
त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादिपाचकम्।"
दृश्यं यकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत्।
यत्पित्तं नेत्रयुगले रूपदर्शनकारिवत्।
यत्पित्तं हृदये तिष्ठन्मेधाप्रज्ञाकरं च तत् ॥
शार्ङ्गधर पूर्व० 5-30-31

252. "यत् पित्तं ऊष्मा च यो या च आ: शरीरे तत्सर्वं आग्नेयं रूपं दर्शनं च ॥"
चरक शा० अ० 7-16

253. "………पित्तं च रञ्जकम् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-13

254. "दृश्यं यकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व 5-31

255. "………आलोचके तथा ।। शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-32

256. "………मेधाप्रज्ञाकरं च तत् ।। शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-31

257. "सत्वं प्रकाशकं विद्धि ।।" काश्यप संहिता सू० 28-32

258. "दर्शनं पक्तिऊष्मा च क्षुत्-तृष्णा—देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माऽविकारजन् ।। चरक सू० अ० 18-50

259. "रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ।" सुश्रुत सू० अ० 15-4

260. "पक्तिः-ऊष्मा-अभिलाष-सुत्-पिपासा-प्रभा-प्रसाद-दर्शन-मेधा-शौर्य-मार्दव आदिथि : पित्तम्" (अ० सं० सू० अ० 18)
………पित्तं पक्ति-अष्मदर्शनः
क्षुत् तृड्रुचिप्रभामेधाधी शौर्यतनुमार्दवैः (अ० हृ० सू० अ० 11)

261. "आग्नेयं भवेत्पित्तं………। त्वचि ……… ।
दृश्यं यकृति यत्पित्तं…………। यत्पित्तं नेत्रयुगले ।
यत्पित्तं हृदये तिष्ठेत्………। शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-30 व 31 व 32

262. "दृश्यं यकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितं तयेत् ।। शार्ङ्गधरपूर्व 5-31

263. "स्वेदो रसो लसिका रुधिरामाशयश्च पित्तं स्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् ।।" चरक सू० अ० 20-8

264. "नाभिरामाशय स्वेदो लसीका रुधिर चक्षुः स्पर्शनं च पित्त स्थानानि अत्र नाभिर्विशेषः"

अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-1

× × ×

"नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्यनाभिरत्र विशेषतः ।"

अष्टांगहृदय सू० अ० 12-2

265. "तदुपरि अधोनाभेः पक्वाशयः पक्वाशयमध्यस्थं पित्तस्य ।"

सुश्रुत सू० अ० 21-6

× × ×

"पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च ।

सुश्रुत सू० अ० 21-7

266. "पित्तस्यामाशयः स्वेदो रक्त सह लसीकया ।"

काश्यपसंहिता सू० अ० 27-11

267. "पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा साधकं चेति पञ्चैव पित्त-नामान्यनुक्रमात् ।। ––शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-32

268. "रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा।" सुश्रुत सू० अ० 15-4

269. "पाचकरंजकसाधकालोचकभ्राजकत्वभेदैः पित्तम्।"

—अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-3

× × ×

"पित्तं पंचात्मकं·········।" —अष्टांगहृदय सू० अ० 12-10

270. "अग्न्याशये भवेत्पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्।.........पाचकम्॥"

शार्ङ्गधर पूर्व० 5-30

271. "दृश्यं यकृति यत्पित्तम्॥" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-31

272. "षष्ठी चाग्निधरा मता॥" शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-6

273. "तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रंस्यमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा॥" सुश्रुत सू० अ० 21-10

274. "तत्र यदामाशय पक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्चत्यक्तद्रवस्वभाववं सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहाद्दहनपचनादिक्रिययालब्धानि, शब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्यमेवानुगृहावाति तत् पाचकमित्युच्यते।

अष्टांग संग्रह सू० 20-3

× × ×

"पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥" अष्टांगहृदय सू० अ० 12-10 व 11-12

275. "त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यंगादिपाचकम्॥
भ्राजकं··········। शार्ङ्गधर पूर्व 5-30

276. "स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविद्या स्मृता।"

चरक इन्द्रियस्थान अ० 7-14

277. "कृष्णः, श्यामः, श्यामावदातः, अवदाश्चेति प्रकृतिवर्णाः। शरीरस्य भवन्ति"

चरक इन्द्रिय अ० -18

× × ×

"नीलश्यावताम्रहस्तिशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिका भवन्ति॥"

चरक इन्द्रिय अ० 1-9

278. "सप्तविधा स्मृता रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता॥

चरक इन्द्रिय 1-14

279. "आसन्नंलक्ष्यते छाया, प्रभा दूरात् प्रकाशते।
वर्णमाक्रामतिच्छाया, प्रभा वर्णप्रकाशिनी॥" सुश्रुत सू० 31-3 की टीका

280. "वर्णमाक्रामतिच्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी।

आसङ्गा लक्ष्यतेच्छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते ।।
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ।
नृणां······।। चरक इन्द्रिय 7-16-17

281. "यन्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यंगपरिषेकावगाहा-वलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ।।"
सुश्रुत सू० अ० 21-10

282. "त्वक्स्थं त्वचो भ्राजनाद् भ्राजकम्, तद् अभ्यंगपरिषेकालेपनादीन् पाचयति छायाश्च प्रकाशयति ।।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-5

× × ×

"त्वकस्थं भ्राजकं भ्राजनात्वचः ।।" अष्टांगहृदय सू० 12-14

283. "दृश्यं प्रकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व० 5-31

284. "यकृद्रञ्जकपित्तस्य स्थानं रक्तस्य संश्रयः ।।" शार्ङ्गधर पूर्व 5-45

285. "रसस्तु हृदयं याति समानमारुतेरितः । रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ।।" शार्ङ्गधर पूर्व 2-31

286. "रक्तवाहिशिरामूलं प्लीहा ख्याता महर्षिभिः ।।" शार्ङ्गधर पूर्व 5-45

287. (क) "तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्येत । पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ।" चरक चि० अ० 15-27

(ख) "यत्तु यकृप्लीह्लोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः ।।" सुश्रुत सू० 29-90

288. "आमाशयस्थं तु रसस्य रंजनात् रंजकम् ।।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-5

× × ×

"आमाशयाश्रमं पित्तं रंजकं रसरंजनात् ।।" अष्टांगहृदय सू० अ० 12-13

289. "यत्पित्तं नेत्रयुगले रूपदर्शनकारि तत् आलोचकम् ।।"
शार्ङ्गधर पूर्व 5-31

290. "दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचनम्" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-5

× × ×

"·········रूपालोचनतः स्मृतम् । दृक्स्थमालोचकं पित्तं······।।
अष्टांगहृदय सू० अ० 12-14

291 "दृष्टिस्थं अन्तस्तारकस्थितं तु रूपस्यालोचनात् तदायन्तरूपग्रहणशक्तित्वात्आलोचकशक्तित्वेनोच्यते ।"—इन्दु

292. "यद् दृष्ट्या पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणेऽधिकृतः ।।" —सुश्रुत सू० अ० 21-20

293. "यत्पित्तं हृदये तिष्ठेमेधाप्रज्ञाकरं च तत् ।।" —शार्ङ्गधर पूर्व 5-32

294. (क) "हृदि प्राणः" शार्ङ्गधर पूर्व 5-27

(ख) शार्ङ्गधर पूर्व 5-32

(ग) "हृदयन्तु विशेषण श्लेष्मण: स्थानमुच्यते"

—काश्यपसंहिता सू० अ० 27-12

295. "बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् साधकं हृद्‌गतं पित्तम् ।।"

—अष्टांगहृदय सू० 12-13

× × ×

"हृदयस्थं बुद्धिमेधाऽभिमानोत्साहैरभिप्रेतार्थसाधनात् साधकम् ।।"

—अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-5

296. "यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थित-मनोरथसाधनकृदुंक्तः ।। —सुश्रुत सू० अ० 21-11

297. "केन जलेन फलति इति फक ।" —शब्दस्तोग

298. "कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतकस्तथा ।

—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-33

299. **श्लेष्म संयोजक :** मध्यजननस्तरादुत्पद्यमानो धातुरयं मुख्यतया भूणा-वस्थायामुपलभ्यते इति श्रौणधातुसंज्ञोऽपि । जन्मोत्तरं तु नेत्रस्य सान्द्रजलमेव स्थायी श्लेष्मलधातुः । दृष्टश्च सद्योजातस्य नाभिनालेऽपि सूक्ष्मा वस्न-सातन्तवः सप्ररोहाः कायाणवश्चात्र स्वल्पतभा भवन्ति । मातृकाद्रव्यं तु पुनः श्लेष्मभूयोगामृत्स्नप्रायं जन्किका सहश्च ।

—अभिनय शारीरं प्रथमभोगः, पृ० 77

300. **संयोजक धातु :** (श्लेषकधातुर्वा)·········प्राग् भूयोभूयोगुणनाच्छलल-कानामुत्पत्तिः, परं शलकान्तरालेषु धवलकसदृशस्यावष्टम्भकवस्तु-विशेषस्य प्रचुर आविर्भावः, ततोऽर्धद्रवरुपेऽस्मिन्नषष्टम्भके सिकताऽभि-व्यक्तिः, सिकतानामत्योन्यानुमेलनाच्च तन्तुसञ्जनमिति धातुस्वरूपस्याभि निवृन्तिक्रमः । —अभिनव शारीरम् प्रथमो भाग, पृष्ठ 42

301. The Secretion of serous glands is thin, Watery, foor in solid, but rich in enzymes, such as the starep—Splitting enzyme, amylase, Also known as Ptyline the Secretion of the uucous glands is thick and Vsicid containing much mus. uco Human Physicology, page 233, Volume-I

302. "कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा ।
तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणे भवेत् ।। —शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-33

303. "रसो भवति संपक्वादपक्वादामसंभवः । बहृ बंलेस माधुर्यं स्निग्धतां याति तदसः । पुष्णाति धातूनाखिलान्सम्यक्पक्वोऽमृतो पमः । मन्दबह्विविदग्धश्च कटुश्चाम्लो भवेद्रसः । विष्टभावं ब्रजेद्वापि कुर्याद्वा रोगसंकरम् ।।

—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 6-3

304. पृथिव्यम्बुगुणभूमिष्ठः स्नेहः—सु० सू० अ० 41

304A. पृथ्वीसोनगुणबहुलानि गुरुणि ।—चल० सू० अ०

305. शीतपिच्छिलौ अम्बुगुणभूमिष्ठौ । —सुश्रुत सू० अ० 41

306. मधुरैकसा आपः

307. ···शार्ङ्गधर संहिता पू० ख० 5-33 ।

308. "गुरुशीतमृदुस्निग्धमपुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥" —च० सू० अ० 1

309. "श्लेष्माः श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ।।" —सु० सू० अ० 1

310. "मधुरं लवणाम्लौ च विद्यात् कफसमान् रसान् ॥" —भेल० वि० 1

311. "······ । तिष्ठन्करोति देहस्य स्थैर्यं सर्वाङ्गपाटवम् ।।"
—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-34

312. Hyhatlyroidism froduies (a) critinism in young and (b) Myxoedama in adult. The Milestone of child development are all deloyed. Human Physicology I Page 4-80

313. ओजः सर्वशरीरस्यं शीतं स्निग्धं स्थिरं मतभ् ।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम् ॥ —शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-18

314. "स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति ।
शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥
स्वेदो दत्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम् ।"
—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-16-17

315. स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलभ् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माऽविकारजम् ॥ —चरक सू० अ० 18

316. "प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
सचैवोजः स्मृतः काये स च पालोपदिश्यते ।।" —चरक सू० अ० 17

317. "स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान्गुणांश्चापि बलासः स्वाः शिराश्चरन् ।।"
—सुश्रुत शा० अ० 7

318. "सन्धिसंश्लेषण-स्नेहन-रोपण-पूरण-बल-स्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधाप्रनिभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ।" —सुश्रुत सू० अ० 15

319. "स्थैर्य-स्नेह-सन्धिबन्ध-वृषता-क्षमा-धी-धृति-बल-अलौल्यादिभिः श्लेष्मा ।"
—अ० सं० सू० अ० 19

320. "कफश्चामाशये मूर्ध्नि कण्ठे हृदि च संधिषु ।···॥
—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-34

321. एवं आमीषु स्यानेषु भूपिष्ठं अविकृता: सकलशरीरव्यापिनोऽपि वातपित्त-श्लेष्माणो वर्तन्ते ।। —अष्टांग संग्रह सू० अ० 20

322. तद्धि (वमनं) आदित एव आमाशयमनुप्रविश्च उरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्मामूलं उद्धृत्य उत्क्षियति ।। —चरक सू० अ० 20

323. "वातपित्तकफादेहेसर्वस्रोतोनुसारिण: ।" —चरक चि० अ० 28-58

324. "उर: शिरोग्रीवा पर्वण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मण: स्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण: श्लेष्मण: स्थानम् ।।" —चरक सू० अ० 20-7

325. 'तत्र समासेन······आमाशय: श्लेष्मण: ।।' —सुश्रुत सू० अ० 21-6

326. "उर: शिर: कण्ठो जिह्वामूलं सन्धय इति पूर्वोक्तं च ।"

—सुश्रुत सू० अ० 21-7

327. ते व्यापिनोऽपि हृत्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वमश्रया: ।। —अष्टांगहृदय सू० 1-9

328. उर: कंठशिर:क्लोमपर्वाष्यामाशयो रस: ।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतराभुर: ।।

—अष्टांगहृदय सू० 12-3

× × ×

उर: कण्ठ: शिर:क्लोम पर्वाव्यामादयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्यानानि तत्राव्युरो विशेषेण ।। —अष्टांग संग्रह सू० 20-3

329. मेद: शिर उदोग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रय: ।
हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मण: स्थानमुच्यते ।।

—काश्यप संहिता सू० अ० 27

330. 'क्लेदनः स्नेहनश्चैव रसनश्चावलम्बनः ।
श्लेष्मकश्चेति नामानि कफस्योक्तान्यनुक्रमात् ।।'

—शार्ङ्गधर पूर्व 5-35

331. अवलम्बक क्लेदक बोधकतर्पक श्लेषकत्व भेदै: श्लेष्मा ।।"

अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-6

332. श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति ।

333. "रसन: स्नेहनश्चापि श्लेषण: स्थानभेदत: ।।"

—भावप्रकाश प्र० पू० 3-127

334. कफश्चामाशये··············। क्लेदन:···।

—शार्ङ्गधर पू० 5-34-35

335. "क्लेदन: क्लेदयत्यन्नमातमशक्त्याऽपराण्यपि ।
अनुगृह्णाति च श्लेष्मस्थानान्युदककर्मणा ।। —भावप्रकाश प्र०पू० 3-129

336. यात्यामाशयमाहार: पूर्वं प्राणानिलेरित: ।
माधुर्यं केनभावं च बहरसोऽपि लभेत स: ।। —शार्ङ्गधर पूर्व 6-1

337. अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकत: ।
मधुराद्यात् कफो भावात् केनभूत उदीर्यते ।। —च० चि० अ० 15

338. "माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च ।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतल: ।
स तत्रस्य एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं-करोति ।।" —सुश्रुत सू० अ० 21-13-14

339. (क) आमाशयस्यितो अन्नसंघातस्य क्लेदनात्क्लेदक: ।"
—अष्टांग संग्रह सू० अ० 20-6

× × ×

'पस्त्वामाशयसंस्थित: । क्लेदक: सो संघात् क्लेदनात् ।"
—अष्टांग हृदय सू० 12-17

(ख) "आमशये क्लेदन:" —भावप्रकाश प्र० पू० 3-128

340. कफश्च···मूर्घ्नि··· स्नेहन:···। —शार्ङ्गधर पूर्व० 5-34-35

341. Cerebrosfinal fluid is a modified tissue fluid present in the cerebral Ventricles, spinal Canal subarachnoid spaces this bathing the entire nervous system. The Central nervous system is devoid of lymphatics. Cerebrosfinal fluid replaces lymph here. Formed by choraid pleyeuses in the Ventricles.
Human Physicology I, Page 5-272-273

342. "शिर: स्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात् तर्पक:"
—अष्टांग संग्रह सू० अ० 20-6

× × ×

"······शिर:संस्थोऽक्षतर्पणात् । तर्पक:·····।।"
अष्टांगहृदय सू० अ० 12-17

344. "स्नेहन: स्नेहदानेन समस्तोन्द्रियतर्पण:" —भावप्रकाश प्र० पू० 3-132

345. "शिरस्थ: स्नेह-संतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणामनुग्रहं करोति ।"
—सुश्रुत सू० अ० 21-14

346. ···कण्ठे······।······। रसन । शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-34-35

347. उभावपि तत: सौम्यो तिष्ठतश्चान्तिके यत: । यतो रसाचिजानीतो रसना-रसनौसमौ । भावप्रकाश प्र० पू० 3/131

348. "रसनास्थ: सम्यक् रसबोधनाद् बोधक: ।" अष्टांग संग्रह 20-6

× × ×

"रसबोधनात् बोधको रसनास्थायी ।" अष्टांगहृदय 12/17

349. "जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते ।।
सुश्रुत सू० अ० 21-14

350. "हृदि······ ।······। अवलम्बनः ।" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-34 व 35

251. "रसयुक्तात्मवीर्येण हृदयस्थावलम्बनम् ।
त्रिकसन्धारणं चापि विदधात्यवलम्बनः ।। त्रिकं शिरोबाहुद्वयसन्धिः ।"
भावप्रकाश प्र० पू० 3/130

352. "त्रिकं शिरो बाहुद्वयसंधानस्थानम् ।" डल्हण

× × ×

"त्रिकस्य बाहुग्रीवासंयोगस्य ।" इन्दु

353. "उरः स्थत्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्वतं करोति,
सुश्रुत सू० अ० 21-14

354. "······उरस्यः, स त्रिकस्य स्ववीर्यतः । हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्य एवाम्बु-
कर्मणा ।। कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् ।।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा । अष्टांगहृदय सू० अ० 12-15-16

× × ×

"सतूरस्यः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्नवीर्येण च सह हृदयस्य शेषाणां च श्लेष्म
स्थानातां तत्रस्थ एवोदक कर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते ।।
अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-6

355. ·····सन्धिषु ।····· श्लेष्मक । शार्ङ्गधर पूर्व अ० 5-34 व 35

356. "श्लेष्मणावेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तुतान् विदुः ।"

357. "सन्धिस्थः श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति ।"
सुश्रुत सू० 21-14

358. "पर्वस्थोऽस्थिसन्धिसंश्लेषणात् श्लेषक इति ।" अष्टांगसंग्रह सू० अ० 20-6
"······सन्धिसंश्लेषात् श्लेषकः सन्धिषुस्थितः । अष्टांगहृदय सू० अ० 12-17

359. "श्लेष्मणः सर्वसन्धीनां संश्लेषं विदधात्यसौ ।। भावप्रकाश प्र० पू० 3-132

4

ऋतुभेदानुसार दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन एवं मानव-शरीर पर प्रभाव

ऋतुओं की उपत्ति : हमारे देश में छः ऋतुएँ पायी जाती हैं। शार्ङ्गधर ने इन छः ऋतुओं की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि जिन छः ऋतुओं में वात, पित्त और कफ का संचय, प्रकोप तथा उपशम होता है। वे छः ऋतुएँ मेष, वृष आदि 12 राशियों में सूर्य के गमन करने के कारण होती हैं।[1] अर्थात् पृथ्वी से सूर्य की विभिन्न स्थितियों के कारण ये ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं। ये छः ऋतुएँ शार्ङ्गधर मतानुसार निम्न प्रकार हैं : 1. ग्रीष्म, 2. प्रावृट्, 3. वर्षा, 4. शरद्, 5. हेमन्त, 6. वसन्त।

इन छः ऋतुओं को राशियों के अनुसार निम्न क्रम में बाँटा गया है। मेष संक्रान्ति से लेकर वृष के अन्त तक; ग्रीष्म, मिथुन और कर्क में; प्रावृट्, सिंह और कन्या में; वर्षा, तुला और वृश्चिक में; शरद, धनु और मकर में; हेमन्त तथा कुम्भ और मीन में वसन्त।[2]

प्रत्येक ऋतु विभाग दोषों के संचय-प्रकोप-प्रशमन के अनुसार किये गये हैं क्योंकि वैशाख से लेकर चैत्र तक दो-दो मासों को एक ऋतु माना गया है। इन्हीं के अनुसार दोष संचित, कुपित और शान्त होते हैं। यह क्रम निम्न प्रकार है :

(1) वैशाख ज्येष्ठ में ग्रीष्म, (2) आसाढ़ श्रावण में प्रावृट् ऋतु।
(3) भाद्रपद और क्वार में वर्षा, (4) कार्तिक अगहन में शरद्।
(5) पौष-माघ में हेमन्त, (6) फाल्गुन चैत्र में वसन्त।

महर्षि सुश्रुत ने ऋतुओं का क्रम बताते हुए कहा है कि दोषों के संचय, प्रकोप तथा प्रशमन का हेतु वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् ये छः ऋतुएँ हैं—

1. भाद्रपद-अश्विन में वर्षा, 2. कार्तिक मार्घशीर्ष में शरद् ।
3. पौष-माघ में हेमन्त, 4. फाल्गुन-चैत्र में वसन्त ।
5. वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म, 6. आषाढ़-श्रावण में प्रावृट् ।[3]

महर्षि चरक और वाग्भट्ट ने वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म में छ: ऋतुएँ मानी हैं ।[4]

उपरोक्त ऋतुओं के विषय में भी दो मत पाये जाते हैं। शार्ङ्गधर और सुश्रुत वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् में छः ऋतुएँ मानते हैं परन्तु चरक और वाग्भट्ट वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म। वैसे चरक ने भी संशोधन को ध्यान में रखकर शिशिर न मानकर उसके स्थान पर प्रावृट् ऋतु को ही माना है ।[5] वर्षा ऋतु से पूर्वकाल को प्रावृट् ऋतु माना गया है ।[6]

सुश्रुत और शार्ङ्गधर ने जो छः ऋतुएँ मानी हैं वे एक समान हैं परन्तु उनके आरम्भ-क्रमों में अन्तर है । सुश्रुत ने क्रमशः वर्षा से परिगणन प्रारम्भ किया है, जबकि शार्ङ्गधर ने ग्रीष्म से ऋतुओं का क्रम माना है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शार्ङ्गधर और सुश्रुत के इस अन्तर का एवं चरक व वाग्भट्ट द्वारा प्रावृट् की जगह शिशिर मानने का क्या उद्देश्य हो सकता है । इसके उत्तर में स्पष्ट है कि भारत की भौगोलिक स्थिति में एक-दूसरे प्रदेश से काफी असमानता है। किसी स्थान पर वर्षा की अधिकता है जो आषाढ़ से प्रारम्भ होकर अश्विन तक चलती है तो अन्यत्र वर्षा तो कम है किन्तु शीत ऋतु का काल सुदीर्घ होता है, मार्गशीर्ष से फाल्गुन तक। यह अन्तर ही इसका कारण है। यह अन्तर इन दोनों आचार्यों के देश (स्थान) का निर्णय करने में पर्याप्त सहायक हो सकता है ।

शार्ङ्गधर की टीका में कहा भी है कि गंगा के दक्षिण देश में वृष्टि अधिक होती है अतः वर्षा से पूर्व प्रावृट् ऋतु को माना है । इसी प्रकार गंगा के उत्तर दिशा में बर्फ पड़ती है अतः शिशिर ऋतु को माना गया है ।[7]

ऋतुओं का दोषों पर प्रभाव : ऋतुओं का दोषों पर भी प्रभाव पड़ता है । दोषों का विशेष ऋतु में संचय, प्रकोप और प्रशमन स्वाभाविक रूप से होता रहता है ।

विभिन्न ऋतुओं में दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन : शार्ङ्गधर ने दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन निम्न ऋतुओं के अनुसार बताया है। उनके अनुसार वात का संचय ग्रीष्म मे, प्रकोप प्रावृट् में तथा प्रशमन शरद में होता है। पित्त

का संचय वर्षा में, प्रकोष शरद में व प्रशमन वसन्त में होता है। कफ का संचय हेमन्त में, प्रकोप वसन्त में तथा प्रशमन प्रावृट् में होता है।[8]

सुश्रुत ने दोषों का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन को कुछ भिन्न प्रकार से निर्दिष्ट किया था, उनके अनुसार वात का संचय ग्रीष्म में, प्रकोप प्रावृट् में तथा प्रशमन शरद में होता है। पित्त का संचय वर्षा में, प्रकोप शरद में तथा प्रशमन हेमन्त में होता है। कफ का संचय हेमन्त में, प्रकोप वसन्त में तथा प्रशमन ग्रीष्म में होता है।[9] दोनों में अन्तर यह है कि शार्ङ्गधर ने पित्त का प्रशमन हेमन्त के स्थान पर वसन्त माना है और कफ का ग्रीष्म के स्थान पर प्रावृट् माना है।

चरक तथा वाग्भट्ट के मतानुसार दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन इस प्रकार है। पित्त, कफ और वात इन तीनों दोषों का वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन छः ऋतुओं में क्रम से एक-एक का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन होता है। वर्षा में पित्त का संचय, शरद में प्रकोप तथा हेमन्त मे प्रशमन होता है। हेमन्त में कफ का संचय, वसन्त में कफ का प्रकोप और ग्रीष्म में प्रशमन होता है। ग्रीष्म में वात का संचय, वर्षा में प्रकोप और शरद में वात का प्रशमन होता है।[10]

वात दोष का संचय : शार्ङ्गधर, चरकसुश्रुतादि सभी ने वात का संचय ग्रीष्म ऋतु में बतलाया है। ग्रीष्म में सूर्य की किरणें प्रखर होने के कारण वनस्पतियों का सौम्य अंश सूख जाता है, जिससे सभी वस्तुएँ पोषण की दृष्टि से हीनवीर्य हो जाती हैं। सूर्य की किरणों से मनुष्यों का शरीर भी शुष्क रहता है। मनुष्य के शरीर के सौम्य अंश का ह्रास होने से कफ दोष का क्षय होता है, जिससे वात का संचय होने लगता है।[11] ग्रीष्म ऋतु में वातावरण अधिक गर्म रहता है, जिसके कारण संचित वायु का प्रकोप नहीं होने पाता है।

वाग्भट्ट जी ने कहा है कि ग्रीष्मकाल में वायु, लघु और रुक्षादि अन्नपात के योग से संचित होकर वातप्रधान शरीर में रुक्षता तथा लघुता का बल पाकर भी ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के कारण प्रकुपित नहीं होती किन्तु संचित होती है।[12]

वात दोष का प्रकोप : वात दोष का प्रकोप शार्ङ्गधर और सुश्रुत ने प्रावृट् में तथा चरक व वाग्भट्ट ने वर्षा में कहा है। प्रावृट् ऋतु भी जहाँ वर्षा अधिक होती है वहां वर्षा से पूर्व ऋतु मानी गयी है। वर्षाकाल में आकाश में मेघ उदय होते हैं। वृष्टि के कारण शीत बढ़ जाता है। वनस्पतियों में भी आर्द्रता आ जाती है, अर्थात् शरीर और भूमि ये दोनों ही क्लिन्न हो जाते हैं जो वात दोष के अनुकूल होते हैं अतः वर्षाकालीन शीत के कारण ग्रीष्म में संचित वायु

प्रावृट् या वर्षा में प्रकुपित हो जाती है। प्रकुपित होकर रोगों को उत्पन्न करती है।[13]

वात दोष का प्रशमन : शरद ऋतु में वात का प्रशमन शार्ङ्गधर, चरक, सुश्रुत व वाग्भट्ट सभी ने ही बतलाया है। शरद ऋतु में विसर्ग काल का मध्य होने के कारण सूर्य की किरणों में तीक्ष्णता न होने के कारण पित्त की ऊष्मा से शीत गुण वाली वायु स्वतः शान्त हो जाती है।

पित्त दोष का संचय : पित्त का संचय शार्ङ्गधर आदि सभी ने वर्षा ऋतु में माना है क्योंकि वर्षा ऋतु में जल अधिक बरसता है, जिससे जल भी गन्दा रहता है और जल प्राप्त होने से नई-नई वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। उनमें पूर्ण रस उत्पन्न नहीं हो पाता है, जिससे कम शक्ति रहती है, पृथ्वी में कीचड़ आदि भी ज्यादा रहता है। अग्नि—वायु और शीत के कारण मन्द हो जाती है इसलिए जो हम आहार लेते हैं, उसमें अम्ल पाक प्रारम्भ हो जाता है। इसी अम्ल पाक के कारण शरीर में पित्त का संचय होता है।[14]

वाग्भट्ट ने भी अष्टांगसंग्रह व अष्टांगहृदय दोनों में ही पित्त के संचय का कारण बताते हुए कहा है कि वर्षाकाल में पित्त अम्ल, विपाकी, अन्नजल आदि के योग से संचय को प्राप्त होता है परन्तु वर्षाजनित शीत के कारण पित्त का प्रकोप नहीं हो पाता है।[15]

पित्त दोष का प्रकोप : पित्त दोष का प्रकोप शार्ङ्गधर, चरक, सुश्रुत आदि सभी ने शरद ऋतु में बतलाया है क्योंकि जब शरदकाल आता है, उस समय आकाश में मेघ हट जाते हैं, पृथ्वी की नमी भी कम हो जाती है, सूर्य की किरणें तेज हो जाती हैं अतः सूर्य की उष्मा को पाकर पित्त प्रकुपित होकर उन्मार्गगमन करने लगता है, जिससे पित्तजन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।[16]

पित्त दोष का शमन : पित्त दोष का शमन शार्ङ्गधर ने वसन्त में बतलाया है तथा सुश्रुत, चरक व वाग्भट्ट ने हेमन्त ऋतु में बतलाया है। यहाँ पर इनमें मतवैभिन्य पाया जाता है। चरक आदि के मतानुसार हेमन्त व वसन्त दोनों ही ऋतु में सूर्य की प्रखरता क्रमशः कम हो जाती है और शीत बढ़ जाता है। अतः इस ऋतु में जो औषधियाँ मिलती हैं, उनका वीर्य पका हुआ होता है। जल व पृथ्वी स्वच्छ रहती हैं, शरीर की उष्मा बाहर न निकलकर अन्दर रहती है जिससे पाचकाग्नि तीव्र रहती है जो कुछ हम आहार ग्रहण करते हैं, उसका मधुर पाक होता है। अतः शरद ऋतु में प्रकुपित पित्त हेमन्त व वसन्त में शान्त हो जाता है।

कफ दोष का संचय : कफ दोष का संचय शार्ङ्गधर, चरक, सुश्रुत व वाग्भट्ट ने हेमन्त में कहा है। क्योंकि हेमन्त काल में जो औषधियाँ वर्षा में उत्पन्न हुई थीं, वह परिपक्व वीर्य वाली हो जाती हैं तथा उनमें शक्ति भी पूर्ण आ जाती

है और जल स्वच्छ, गुरु, स्निग्ध हो जाता है। शरीर की ऊष्मा तीव्र हो जाती है। सूर्य की किरणों के मन्द हो जाने से तुषार से मिली हुई गीली वायु के कारण स्तम्भित बने पुरुषों में इस गुरु आदि गुण वाले वनस्पति तथा जल के उपयोग से, मधुर पाक होने के कारण कफ का संचय होता है।[17]

वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय व संग्रह में कहा है कि शीतकाल में स्निग्ध शीतादि गुणयुक्त अन्नजल के सेवन से कफ संचित होता है परन्तु देह और काल, कफ के समान गुण होने पर भी अतिशीतजनित कफ के घनीभूत होने से कफ का प्रकोप नहीं होता।[18]

कफ दोष का प्रकोप : कफ का प्रकोप वसन्त ऋतु में होता है क्योंकि वसन्त ऋतु के आने पर सूर्य की किरणों से पिघलकर संचय हुआ कफ प्रकुपित होता है। जिससे कफज रोगों की उत्पत्ति होती है।

कफ दोष का प्रशमन : शार्ङ्गधर ने कफ दोष प्रशमन प्रावृट् ऋतु में माना है और चरक सुश्रुत वाग्भट्ट ने ग्रीष्म में प्रशमन बतलाया है। दोनों ऋतुओं में अन्तर यह है प्रावृट् में कभी-कभी बादल और वर्षा होती है ग्रीष्म में नहीं। किन्तु तीव्र उष्णता दोनों में समान रहती है और क्योंकि जब ग्रीष्म आती है तो सूर्य की किरणें अत्यन्त प्रखर हो जाती हैं जिससे पृथ्वी के और पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली औषधियों के स्नेहांश का शोषण हो जाता है जिससे शरीर में रुक्षता, उष्णता, लघुता के बढ़ने से तथा आहार के अल्पवीर्य होने से कफ का स्वाभाविक रूप से प्रशमन हो जाता है।

दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन होने के अन्य कारण : शार्ङ्गधर ने कहा है कि ऋतुओं के अनुसार दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन कालक्रम से स्वाभाविक रूप से होता रहता है परन्तु समान आहार-विहार के सेवन से भी संचय, प्रकोप एवं प्रशमन होता है। यदि बढ़े हुए दोषों के विपरीत आहार-विहार होगा तो अकाल में भी दोषों का शमन होगा।[19]

इसी प्रकार दोषों पर आयु, दिन, रात्रि तथा भोजनकाल का प्रभाव पड़ता है। वातादि दोष आयु, दिन, रात्रि तथा भोजनकाल के अन्त, मध्य तथा आरम्भ में क्रम से बलवान होते हैं।[20] बाल्यावस्था में कफ प्रकोप होता है, युवावस्था में पित्त और वृद्धावस्था में वायु प्रकोप होता है। इसी प्रकार प्रातःकाल में कफ, मध्याह्नकाल में पित्त तथा सायंकाल में वात प्रबल होता है। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में कफ, मध्य भाग में पित्त तथा अन्तिम भाग में वात की प्रबलता रहती है। इसी प्रकार भोजन करने के तुरन्त बाद कफ, परिपाक के समय पित्त तथा पचन के बाद वायु की प्रधानता रहती है।[21] यह तीनों दोष अपने-अपने प्रकोपकाल में रोगों को बढ़ाते और उत्पन्न करते हैं। दोष प्रबलता के कारण उसी दोष से सम्बद्ध रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना विशेष रूप से रहती है

जैसे प्राय: देखा जाता है कि वृद्धावस्था में वात की प्रबलता के कारण वातजन्य रोग, सन्धिभूल, पक्षाघात, कम्ब आदि रोग विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा में विभिन्न कालों में दोषों की स्थिति को ध्यान में रखकर ही रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।

वात प्रकोप एवं उसका प्रशमन : शार्ङ्गधर के अनुसार वात दोष का प्रकोप; रूक्ष, लघु द्रव्यों के आहार से, प्रतिदिन या कुछ दिनों के अल्पाहार से, अधिक श्रम तथा शीतद्रव्यों के सेवन से, सायंकाल काम, शोक, भय, चिन्ता, रात्रि-जागरण, चोट, शीतल जल में अधिक देर नहाने से, आहार के पचने के बाद; धातुओं के क्षय होने पर वायु का प्रकोप होता है और उसके विपरीत आहार-विहार करने से वायु शान्त हो जाता है।[22]

पित्त प्रकोप एवं उसका शमन : शार्ङ्गधर ने पित्त के प्रकोप एवं शमन के उपाय बताते हुए कहा है कि विदाही अर्थात् जलन पैदा करने वाले चरपरे, खट्टे पदार्थों के सेवन तथा उष्ण भोजन करने से और अधिक गर्मी सहना, दोपहर में भूख-प्यास को रोकना, भोजन के जीर्ण होने की अवस्था में, आधी रात में, इनसे पित्त का प्रकोप होता है और इनके विपरीत आहार-विहारों से उसकी शान्ति होती है।[23]

कफ प्रकोप एवं उसका शमन : शार्ङ्गधर ने कफ के प्रकोप के कारण एवं उसके शमन के उपाय बताते हुए कहा है कि मधुर, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन से, दिन में सोने से, मन्दाग्नि से, प्रातः समय, भोजन करते ही तथा परिश्रम न करने से कफ का कोप हो जाता है और इसके विपरीत आहार-विहार से उसकी शान्ति हो जाती है।[24]

स्वाभाविक कलाकृत दोषों का निर्हरण : महर्षि सुश्रुत ने वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त में संचित दोषों तथा शरद् वसन्त और प्रावृट् में प्रकुपित दोषों को वमन, विरेचन और वस्ति आदि के द्वारा शरीर से बाहर निकालने के लिए कहा है। यह निर्हरण ऋतु के पिछले भाग में करना चाहिए जैसे पित्त का संशोधन मार्गशीर्ष में, कफ का चैत्र में तथा वात का श्रावण मास में निर्हरण करना चाहिए।[25] श्लेष्मा का निर्हरण वसन्त में, पित्त का शरद में तथा वायु का शमन वर्षा में, रोग उत्पन्न होने से पूर्व ही करें।

महर्षि चरक ने भी दोषों के निर्हरण का बहुत विस्तृत विवेचन करते हुए कहा है कि वर्षा, शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म तथा प्रावृट् यह छः ऋतुएँ दोषों के संशोधन कार्यों के उद्देश्य से बाँटी हैं। अन्य कार्यों के लिए वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ये छः ऋतुएँ कही हैं। उनमें से साधारण लक्षण वाली तीन ऋतुएँ प्रावृट्, शरद और वसन्त में वमन आदि संशोधन कर्म करायें तथा इनसे भिन्न तीन ऋतुएँ वर्षा, हेमन्त व ग्रीष्म में वमनादि संशोधन कर्म न करायें।

साधारण लक्षण वाली उपरोक्त तीन ऋतुओं में शीत, उष्ण, वर्षा के अल्प होने से शरीर के लिए सुखकर होते हैं अर्थात् इन ऋतुओं में संशोधन से कोई हानि नहीं होती है।

शेष तीन ऋतुएँ शीत, उष्ण तथा वर्षा की अधिकता के कारण संशोधन के अयोग्य होती हैं। इन वर्षान्त ऋतुओं में संशोधन न करायें और यदि कोई ऐसा शीघ्रकारी रोग हो जिसमें कि संशोधन कराना आवश्यक ही हो और उसके अतिरिक्त कोई उपाय न हो तब परिस्थितिवश संशोधन रोगी के रोग को दूर करने के लिए कराना पड़ेगा। इस अवस्था में अत्यन्त सावधानीपूर्वक औषधियाँ संस्कारित करके व समप्रमाण में औषधियों का प्रयोग करके संशोधन कराना चाहिए।[26]

ऋतुओं का मानव-शरीर पर प्रभाव

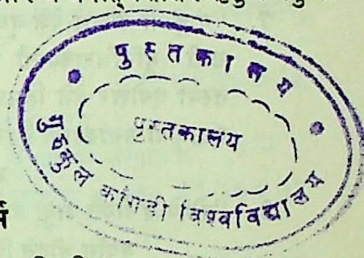
विसर्ग काल : वर्षा, शरद् और हेमन्त इन तीन ऋतुओं को दक्षिणायन कहा जाता है क्योंकि इन छः महीनों में सूर्य की गति दक्षिण की ओर होने से सूर्य का बल क्रम से घटता जाता है और चन्द्रमा का बल क्रम से बढ़ता जाता है अतः सौम्य गुण बढ़ जाता है। मेघ, वर्षा और शीतल पवन से पृथ्वी की ऊष्मा शान्त हो जाती है। तब स्नेह की अधिकता से अम्ल, लवण और मधुर तीनों रस बलवान् हो जाते हैं जैसे वर्षा में अम्ल रस, शरद् में लवण रस तथा हेमन्त में मधुर रस विशेष बलवान् होते हैं। इस काल को विसर्ग काल कहा जाता है। अतः इन ऋतुओं में मनुष्य का बल भी बढ़ता है।[27]

आदान काल : शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं में सूर्य उत्तरायण होता है। यह छः महीने का काल आदान काल कहलाता है। इस काल में सूर्य का बल क्रम से बढ़ता जाता है। सूर्य इस काल में प्रतिदिन पृथ्वी से स्नेह भाग का आहरण करते हैं अतः प्राणियों व मनुष्यों का बल भी क्रम से घटता जाता है। इस समय सूर्य की गति उत्तर की ओर होने से, किरणें तीक्ष्ण हो जाती हैं, इन तीक्ष्ण किरणों द्वारा स्नेह भाग के अपकर्षण से वायु भी रुक्ष हो जाती है अतः सूर्य और वायु तीक्ष्ण और रुक्ष होने से प्रतिदिन पृथ्वी के स्निग्ध, गुरु आदि सौम्य गुणों का नाश कर देते हैं। उत्तरायण काल में शिशिर में वसन्त, वसन्त में कषाय तथा ग्रीष्म में कटु यह रस प्रबल हो जाते हैं। यह रस सौम्य कफ का नाश कर प्राणियों का बल नष्ट कर देते हैं। इन ऋतुओं का बल क्रमशः घटता जाता है।[28]

विभिन्न ऋतुओं में मनुष्य के बल की स्थिति

ऋतुओं का प्रभाव विभिन्न भावों पर पड़ता है जैसे दोषों का विशेष ऋतु में संचय, प्रकोप तथा प्रशमन स्वाभाविक रूप से होता है। जिस प्रकार ऋतुओं का वनस्पतियों पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्यों पर भी ऋतुओं का प्रभाव पड़ता है। मनुष्यों के शरीर में बल की स्थिति विभिन्न ऋतुओं में भिन्न पायी जाती है। जैसे—

विसर्ग काल के आदि अर्थात् वर्षा ऋतु में तथा आदान काल के अन्त अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में मनुष्यों के अन्दर क्षीण बल पाया जाता है। विसर्ग और आदान काल के मध्य अर्थात् शरद् व वसन्त ऋतु में बल मध्यम रहता है। विसर्ग काल के अन्त अर्थात् हेमन्त और आदान काल के प्रारम्भ अर्थात् शिशिर ऋतु में मनुष्यों का बल श्रेष्ठ होता है।[11]



सन्दर्भ

1. "चयकोपशमा यस्मिन्दोषाणां सम्भवन्ति हि।
   ऋतुषटकं तदाख्यातं रवे राशिषु संक्रमात् ॥"
   शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 2-25
2. "ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृण्मिथुनकर्कयोः।
   सिंहकन्ये स्मृता वर्षास्तुलावृश्चिकयोः शरत्
   नुर्ग्राह ैच हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ॥"
   शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 2-26
3. "इह तु वर्षाशरदहेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षडऋतवो भवन्ति। दोषोपचयकोपोशमनिमित्तं। तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुन-चैत्रौ वसन्तः, वैशाखजेष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढ़श्रावणौ प्रावृडिति। सुश्रुत सू०अ० 6-10
4. "इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्।
   तत्रादित्यस्योदगयनगादानं च क्षीनूवृच्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तात् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च।"
   चरक सूत्र अ०—6-4

× × ×

"शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमा ।।"

अष्टांगहृदय अ० 3-1

5. "हेमन्तो ग्रीष्मोवर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रयः ऋतयो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रयः ऋतवः—प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः ।।"

चरक वि० अ०—8-125

6. "ननु प्रावृड्वर्षयोः को भेदः ? उच्यते, प्रथमः प्रवृत्तः कालः प्रावृट् तस्यानुबन्धो वर्षा इत्यत्र भेदः ।"

शार्ङ्गधर दीपिका टीका, पृष्ठ 24

7. "गंङ्गायां दक्षिणे देशे वृष्टेर्बहुलाभवतः ।
उभौ मुनिभिराख्यातौ प्रावृड्वर्षाभिधाहतू ।
तस्या एवोत्तरे देशे हिमप्रचुरप्रभावतः ।
एतावुभौ समाख्यातौ हेमन्तशिशिरावृत् ।।"

शार्ङ्गधरसंहिता—लक्ष्मी, टिप्पणी, पृ० 23

8. "ग्रीष्मे संचीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति ।
वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति ।
हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ।
प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः ।
शरत्काले, वसन्ते च पित्तं प्रावृड्ऋतौ कफाः ।।"

शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 2-27 से 29

9. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान अ० 6-11 ।

10. "चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।
भवन्त्मेकैकशः षट्सु कालेष्वभागमादिषु ।।"

चरक सू० अ० 17-114

× × ×

"चयकोपशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ।"

अष्टाङ्गहृदय सू० अ० 12-24

11. "ता एवौषधयो निदाघे निःसारा रुक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमाना सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाच्च वायोः संचयमापादयन्ति ।"

सुश्रुत सू० अ० 6-11

12. "चीयतेलघुरुक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ।
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्णयान्न कुप्यति ।।"

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 21-1

× × ×

अष्टाङ्गहृदय सू० अ० 12-25-26

13. "स संचयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां देहिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीज्जनयति ।।"

सुश्रुत सू० अ० 6-11

14. "तत्र, वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमल-प्रायाः ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावर्तते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति ।।"

सुश्रुत सू० अ० 6-11

15. "अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ।
पित्तं पाति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।।"

अष्टाहृदय सू० अ० 12-26 व 27

× × ×

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 21

16. "स सञ्चयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरण-प्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति ।"

सु० सू० अ० 6-11

17. "ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रशान्ताः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्भानोः सतुषारपवनोस्ताम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याग्दौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचयमापादयन्ति ।"

सुश्रुत सू० अ० 6-11

18. (क) "चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ।
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।।"

अष्टाङ्गहृदय सू० अ० 12-27 व 28

× × ×

(ख) अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 21 ।

19. "चयकोपशमा दोषा विहाराहारसेवनैः ।
समानैर्यान्त्यकालेऽपि विपरीतैर्विपर्ययम् ।।"

शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 2-31

20. "वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ।"

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 1, पृष्ठ 7

21. "अन्तानीनां वातादिभिर्यथासंख्यं संबन्धः। वयसः पुरुषायुषः अन्तः पश्चिमो भागो वायोः कोपकालः। मध्यभागः पित्तस्य। पूर्वभागः श्लेष्मणः। अह्लोप्येवं रात्रेश्च। भुक्तं निगीर्ण आहारः। तस्यान्तो जीर्णप्रायावस्था वायोः कोपकालः। मध्यं विदाहावस्था पित्तस्य। पूर्वावस्था भुक्तमात्र एवान्ने श्लेष्मणः ॥"—इन्दु

अष्टाङ्गसंग्रह टीका, पृष्ठ 8

सूत्रस्थानम् व्याख्याकार—गोवर्द्धन शर्मा

22. "लघुरुक्षमिताहारादतिशीताच्छ्रमात्तथा। प्रदोषे कामशोकाभ्यां भीचिन्तारात्रिजागरैः। अभिघातादषां गाहाज्जीर्णेऽन्ने धातुसंक्षयात्। वायुः प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥"

शार्ङ्गधर पू० अ० 2-32 व 33

23. "विदाहिकटुकाम्लोष्णभोज्यैरत्युष्णसेवनात्।
मध्याह्ने क्षुत्तृषारोधाज्जीर्यत्यन्नेऽर्द्धरात्रके ॥
पित्तं प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥"

शार्ङ्गधर पू० अ० 2-34

24. "मधुरस्निग्धशीतादिभोज्यैर्दिवसनिद्रया।
मन्देऽग्नौ च प्रभाते च भुक्तमात्रे तथाऽश्रमात्।
श्लेष्मा प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥"

शार्ङ्गधर पू० अ० 2-35 व 36

25. "तत्र वर्षाहिमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्त्तव्यम्।" सुश्रुत सू० अ० 6-12

26. "हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरेसाधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः-प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः। तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु। साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पकाश्च। शरीरौषधानाम्, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम् ॥"

चरक विमानस्थानं अ० 8-125 व 126

27. वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च। विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति, इतरे पुनरादाने। सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभि-र्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शाश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः।"

चरक सू० अ० 6-4

× × ×

"वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहत-प्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगति, अरुक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति।" चरक सू० अ० 6-7

28. "तत्रादित्यस्योदग यनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तात् व्यवस्येत्।" चरक सू० अ० 6-4

× × ×

"आदानं पुनराग्नेयं, तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्ग-परिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबल निर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते। तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररुक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रुक्षान् रसांस्तिक्त-कषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति॥"

चरक सू० अ० 6-5 व 6

29. "आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्यबलं, त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्॥"

चरक सू० अ० 8-6

× × ×

"शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः॥"

अष्टाङ्गहृदय सू० अ० 3-7

× × ×

हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम्।
शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः॥"

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० 4

5

रोग हेतु विचार

आचार्य शार्ङ्गधर एवं आचार्य चरक द्वारा वर्णित वात नानात्मज विकारों का तुलनात्मक विवेचन

हमारे शरीर में विकार दो प्रकार के होते हैं :

(1) सामान्यज, (2) नानात्मज।

(1) सामान्यज : जिनकी उत्पत्ति सामान्य होती है वे सामान्यज विकार कहलाते हैं। सामान्यज विकार किसी भी दोष से हो सकता है यथा—वात-पित्त, कफ से, दो दोषों से या तीनों दोषों से यथा—ज्वर, कतिसार आदि।

(2) नानात्मज : वह रोग जो केवल एक ही स्वतन्त्र दोष से पैदा होते हैं तथा दूसरे दोष उस व्याधि को पैदा नहीं कर सकते वे नानातमज कहलाते हैं। यह बहुव्याधिरूप होने से नानातमज कहलाते हैं। नानात्मज विकार वात-पित्त और कफ भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

वात नानात्मज विकार[1]

1. **आक्षेपक :** कुपित वायु द्वारा शरीर में बारम्बार आक्षेप जाना।
2. **हनुस्तम्भ :** हनु सन्धि स्थानच्युत होकर स्तम्भित हो जाना।
3. **उरुस्तभ :** उर्वस्थियों का स्तम्भित होना।
4. **शिरोग्रह :** कण्ठगत शिराओं में तीव्र वेदना एवं उनका रुक्ष व वृष्ण होना।

5. वाह्यायाम : शरीर का धनुषवत् बाहर की ओर टेढ़ा होना।

6. अन्तरायाम : शरीर का अन्दर की ओर अर्थात् सामने की ओर धनुषवत् टेढ़ा होना।

7. पार्श्वशूल : पार्श्व भाग में पीड़ा होना।

8. कटिग्रह : त्रिकसन्धि में तोद, स्तम्भ व शूल होना।

9. दण्डापतानक : शरीर का आपाद मस्तक दण्डवत् सीधा स्तम्भित होना।

10. खल्ली : हाथ, पैर, जंघा आदि में ऐंठन या पीड़ा होना।

11. जिह्वास्तम्भ : जिह्वा का स्तम्भित होना।

12. अर्दित : ग्रीवा, मुख, नासिका आदि का दायीं या बायीं ओर को मुड़ना।

13. पक्षाघात : शरीर के आधे भाग का संज्ञाहीन और अकर्मण्य होना।

14. कोष्टुशीर्ष : घुटने पर गीदड़ के सिर जैसा आकार या उभार होना।

15. मन्यास्तम्भ : मन्या मांसपेशी प्रभावित होकर गले को स्तम्भित करना।

16. पंगुता : दोनों पैरों का संचालन नष्ट होना।

17. कलायखञ्ज : लँगड़ाकर चलना।

18. तूनी : पक्वाशय या वस्ति से उठकर वेदना का गुदा या मूत्रमार्ग तक जाना।

19. प्रतितूनी : गुदा या मेढ़ू से उत्पन्न होकर वेदना का पक्वाशय तक जाना।

20. खञ्जता : एक पैर का लँगड़ापन।

21. पादहर्ष : पैरों का झनझनाना तथा स्पर्शज्ञानहीन होना।

22. गृध्रसी : इसमें वायु पहले स्फिक् प्रदेश से प्रारम्भ होकर क्रमशः कटि, पृष्ठ, उरु, जानु, जंघा और पाद को स्तम्भ-पीड़ा के साथ व्याप्त हो जाता है।

23. विश्वाची : इसमें वायु अंगुली, हथेली और बाहुगत कण्डरा में अवस्थित होकर बाहु को अकर्मण्य बना देती है।

24. अवबाहुक : असंदेशस्थ वायु बाहु के असंबन्धन को सुखाकर शिराओं का संकोचन कर हाथ को सुखा देता है। उसे अवबाहुक कहते हैं।

25. अपतानक : इसमें वायु के प्रकोप के समय आँखें स्तम्भित होकर कण्ठ

से कबूतर-सा कूजता है तथा संज्ञा लुप्त हो जाती है। हृदय से वायु का प्रकोप हट जाने से पुनः होश आ जाता है।

26. व्रणायाम : यह भी आक्षेपक का भेद है परन्तु यह चोट लगने के कारण होता है।

27. वातकण्ठक : इसमें पाद का विषम न्यास या अधिक परिश्रम से वायु गुल्फ सन्धि में वेदना उत्पन्न करता है।

28. अपतन्त्रक : कुपित वायु अपने स्थान से चलकर हृदय सिर को पीड़ित करता हुआ शरीर को धनुषवत् कर देता है। शरीर में आक्षेप आते हैं, आँखें स्तब्ध होकर कण्ठ से कबूतर की-सी आवाज निकलती है और मनुष्य बेहोश हो जाता है।

29. अंगभेद : शरीर में किसी अंग पर द्विधाकरणवत् पीड़ा को अंगभेद कहते हैं।

30. अंगशोष : शिरा-स्नायु आदि में अधिष्ठित वायु कुपित होकर उस अंग को सुखा देता है।

31. मिन्मिनत्व : कुपित वायु शब्दवाही स्रोत में पहुँचती है, तब मनुष्य मिनमिनाकर अर्थात् नाक से बोलता है।

32. कल्लला : यह रोग भी शब्दवाही स्रोत के वायु दूषित होने से होता है। इसमें मनुष्य रुँधे गले से बोलता है।

33. अष्ठीला : नाभि के नीचे स्थिर या सञ्चरणशील बड़ी ग्रन्थि उठ आती है एवं बाहरी मार्गों को रोक देती है। इसे अष्ठीला या वातष्ठीला कहते हैं।

34. प्रत्यष्ठीला : नाभि के नीचे स्थिर या सञ्चरणशील बड़ी ग्रन्थि यदि तिरछी हो तथा वाय और मलमूत्र को रोक दे तो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं।

35. वामनत्व : वातदूषित शुक्रार्तव के उत्पन्न होने से शरीर की वृद्धि नहीं हो पाती है और मनुष्य अधिक अवस्था होने पर भी बालक जैसा ही रह जाता है।

36. कुब्जत्व : वातकर्तृक पीठ की ओर रीढ़ कूबड़-सी निकल आती है और सिर छाती में घुसा-सा रहता है।

37. अंगपीड़ा : शरीर के किसी भी अंग में साधारण दर्द होना।

38. अंगशूल : शरीर के किसी भी अंग में बीधने की-सी पीड़ा होना।

39. अंगसंकोच : शरीर के किसी भी अंग का सिकुड़ जाना।

40. अंगस्तम्भ : शरीर के किसी भी अंग का जकड़ जाना।

41. अंगरूक्षता : शरीर के किसी भी अंग या शरीर का रूखा हो जाना।

42. अंगभंग : शरीर के किसी भी अंग में तोड़ने-सी पीड़ा होना।

43. अंगविभ्रंश : शरीर के किसी भी अंग की सन्धि का ढीला पड़ जाना।

44. विड्ग्रह : मल की अप्रवृत्ति।

45. बिद्धविट्कता : मलाशय में मल का सूखकर कड़ा हो जाना।

46. मूकत्व : गूँगा हो जाना।

47. जृम्भाधिक्य : जम्भाइयों की अधिक प्रवृत्ति।

48. अत्युद्गार : आमाशयस्थ वायु के बिगड़ने से डकारों का अधिक आना।

49. अन्त्रकूजन : अधः प्रतिहत अपान वायु का अन्त्रों में गुड़-गुड़ शब्द करना।

50. वातप्रवृत्ति : अधोवायु का बारम्बार निकलना।

51. स्फुरण : वातरोध से पेशियों का फड़कना।

52. शिरापूरण : शिराओं का भरा हुआ-सा स्थूल हो जाना।

53. कम्प : शरीर का काँपना।

54. कार्श्य : शरीर का पतला होना।

55. श्यावता : शरीर का वर्ण श्याम रंग हो जाना।

56. प्रलाप : विना मतलब के बोलते रहना।

57. क्षिप्रमूत्रता : बारम्बार मूत्र की प्रवृत्ति।

58. निद्रानाश : नींद का न आना।

59. स्वेदनाश : पसीने का न निकलना।

60. दुर्बलता : जन्म से ही कमजोर रहना।

61. बलक्षय : शरीर की शक्ति का ह्रास।

62. शुक्र की अतिप्रवृत्ति : शुक्र का अधिक मात्रा में स्खलित होना।

63. शुक्रकार्श्य : वीर्य का कम होना।

64. रेतोनाश : वीर्य का नष्ट होना अर्थात् शुक्राशय में शुक्र कान बनना।

65 अनवस्थितचित्रत्व : किसी बात पर स्थिर न रहना, सदा बात बदलते रहना।

66. काठिन्य : अंगों का पथरा जाना।

67. विरसास्यता : मुख में स्वाद का न होना या फीकापन।

68. कषायवक्त्रता : मुख का हमेशा कसैला मालूम पड़ना।

69. आध्मान : वायु के रुकने से पेट का मशक के समान फूल जाना।

70. प्रत्याध्मान : वायु के रुकने से आमाशय का फूलना।

71. शीतता : हमेशा जाड़ा लगते रहना।

72. **रोमहर्ष :** घृणा या हर्ष से त्वक्गत वायु द्वारा रोममूलों पर दबाव पढ़ने से रोंगटों का खड़ा होना।

73. **भीरुता :** वातकर्तृक ओज के क्षय होने से हमेशा भयभीत रहना।

74 **तोद :** शरीर में सुई चुभने की सी पीड़ा होना।

75. **कण्डू :** त्वचा पर खुजलाहट होना।

76. **रसाज्ञता :** मधुरादि रसों को चखकर न जान सकना।

77. **शब्दाज्ञता :** शब्दों को सुन न सकना।

78. **प्रसुप्ति :** किसी अंग की त्वचा का सो जाना अर्थात् स्पर्श ज्ञान शून्य हो जाना।

79. **गन्धाज्ञता :** सुरभि और असुरभि गन्धों का ज्ञान न होना।

80. **दृष्टि क्षय :** देख न सकना या कम दिखाई पड़ना।

शार्ङ्गधर ने यद्यपि केवल इन 80 वात रोगों की गणना की है तथापि इन्हें उपलक्षण ही मानना चाहिए क्योंकि अन्य वात रोग भी हो सकते हैं तथा शार्ङ्गधर ने कहीं यह संकेत नहीं किया है कि इन अस्सी रोगों के अलावा अन्य कोई वात रोग नहीं है। अतः इनसे भिन्न यदि कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो उसमें वायु के शीतरुक्षादि आत्मरूप को देखकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

शार्ङ्गधर ने जिन अस्सी वात रोगों का वर्णन किया है तथा जो चरक ने वात नानात्मज रोगों की गणना की उसमें कुछ भिन्नता पायी जाती है। निम्न तालिका-1 में यह स्पष्ट होता है कि शार्ङ्गधर ने कौन-कौन से रोग चरक से अलग वात नानात्मज रोगों के अन्तर्गत रखे हैं।

चरक वर्णित वात नानात्मज रोगों से भिन्न शार्ङ्गधर द्वारा वर्णित रोग

तालिका-1

	चरक	शार्ङ्गधर
1.	नखभेदः	×
2.	विभादिका	×
3.	पादशूलम्	×
4.	पादभ्रंशः	×
5.	गुल्फग्रहश्च	×
6.	पिण्डिकोद्वेष्टनम्	×
7.	जानुभेदः	×

	चरक	शार्ङ्गधर
8.	जानुविश्लेषः	×
9.	उरुसादश्च	×
10.	गुदभ्रंश	×
11.	गुदार्तिश्च	×
12.	वृषणाक्षेपः	×
13.	शेफहस्तम्भः	×
14.	वङ्क्षणानाहश्च	×
15.	श्रोणिभेदः	×
16.	ह्नमोहः	×
17.	हृदद्रवः	×
18.	वक्षउदर्ष	×
19.	वक्षोपरोधः	×
20.	बाहुशोषः	×
21.	ग्रीवस्तम्भः	×
22.	कष्ठोद्ध्वंसः	×
23.	हनुभेदः	×
24.	ओष्ठभेदः	×
25.	अक्षिभेदः	×
26.	दन्तभेदः	×
27.	दन्तशौथिल्यम्	×
28.	मुखशोषः	×
29.	कर्णशूलम्	×
30.	उच्चैःश्रुतिः	×
31.	बाधिर्यम्	×
32.	वर्मस्तम्भः	×
33.	वर्मसंकोचः	×
34.	अक्षिशूलम्	×
35.	अक्षिव्युदासः	×
36.	शङ्खभेदः	×
37.	लालटभेदः	×
38.	केशभूमिस्फुटनम्	×
39.	एकाङ्गरोगः	×

	चरक	शार्ङ्गधर
40.	सर्वाङ्गरोगः	×
41.	तमः	×
42.	भ्रमः	×
43.	वेपथुः	×
44.	विषादः	×
45.	रौक्ष्यम्	×
46.	हिक्का	×
47.	×	वाङ्यायामः
48.	×	अन्तरायामः
49.	×	खल्ली
50.	×	जिह्वास्तम्भ
51.	×	क्रोष्टुशीर्षः
52.	×	कलायखञ्जता
53.	×	तूनी
54.	×	प्रतितूनी
55.	×	विश्वाची
56.	×	अपबाहुकः
57.	×	अपतानकः
58.	×	व्रणायामः
59.	×	अपतन्त्रकः
60.	×	अङ्गभेदः
61.	×	अङ्गशोषः
62.	×	प्रत्यष्ठीला
63.	×	अष्ठीलिका
64.	×	अङ्गपीड़ा
65.	×	अङ्गशूलम्
66.	×	अङ्गसंकोचः
67.	×	अङ्गस्तम्भः
68.	×	अङ्गरुक्षताः
69.	×	अङ्गभङ्ग
70.	×	अङ्गविभ्रंशः
71.	×	बद्धविट्कता

	चरक	शार्ङ्गधर
72.	×	अन्त्रकूजनम्
73.	×	वातप्रवृत्तिः
74.	×	स्फुरणम्
75.	×	शिरापूरणम्
76.	×	कम्पः
77.	×	कार्श्यम्
78.	×	क्षिप्रमूत्रता
79.	×	स्वेदनाशः
80.	×	दुर्बलता
81.	×	बलक्षयः
82.	×	अतिप्रवृत्तिशुक्रस्य
83.	×	शुक्रकार्श्यम्
84.	×	रेतोनाश
85.	×	शीतता
86.	×	रोमहर्षः
87.	×	भीरुत्वम्
88.	×	कण्डू
89.	×	प्रसुप्तिः
90.	×	हनुस्तम्भः
91.	×	शिरोग्रहः
92.	×	कलायखञ्जता

इसके साथ ही चरक और शार्ङ्गधर के वात नानात्मज रोगों में से कुछ रोगों के नामों में साम्यता भी पायी जाती है। इसको तालिका-2 में दर्शाया गया है।

शार्ङ्गधर एवं चरक दोनों में वर्णित एक समान वात नानात्मज रोग

तालिका-2

	शार्ङ्गधर	चरक
1.	आक्षेपकः	आक्षेपकः
2.	उरुस्तम्भः	उरुस्तम्भः
3.	मन्यास्तम्भः	मन्यास्तम्भः
4.	खञ्जता	खञ्जता

	चरक	शार्ङ्गधर
5.	गृध्रसी	गृध्रसी
6.	कुब्जता	कुब्जता
7.	वामनत्वम्	वामनत्वम्
8.	मूकत्वम्	मूकत्वम्
9.	जृम्भा	जृम्भा
10.	अनवस्थितचित्तत्वम्	अनवस्थितचित्तत्वम्
11.	अर्दितम्	अर्दितम्

इसके अतिरिक्त कुछ रोग ऐसे भी हैं, जिनमें शार्ङ्गधर और चरकोक्त वात नानात्मज रोगों के नामों में कुछ-कुछ समानता पायी जाती है। यह तालिका-3 से स्पष्ट है।

शार्ङ्गधर एवं चरकोक्त वात नानात्मज विकारों में से कुछ-कुछ समान रोग

तालिका-3

	चरक	शार्ङ्गधर
1.	पार्श्वशूलम्	पार्श्वविमर्दः
2.	कटिग्रहः	त्रिकगृहः
3.	दण्डापतानकः	दण्डकः
4.	पङ्गुता	पाङ्गुल्यम्
5.	पादहर्षः	पादसुप्तता
6.	वातकण्टकः	वातखुड्डता
7.	मिन्मिनत्वम्	वाक्सङ्गः
8.	विड्ग्रहः	विड्भेदः
9.	अत्युद्गार	हिक्का
10.	श्यावता	श्यावारुणभासता
11.	प्रलापः	अतिप्रलापः
12.	काठिन्यम्	पारुष्यम्
13.	विरसास्यता	अरसज्ञता
14.	कषायवक्त्रता	कषायास्यता
15.	आध्मानम्	उदरावेष्टः
16.	प्रत्याध्मानम्	उदावर्त्तः
17.	तोदः	वक्षस्तोदः

	चरक	शार्ङ्गधर
18.	रसाज्ञता	अरसज्ञता
19.	शब्दाज्ञता	अशब्दश्रवणम्
20	गन्धाज्ञता	घ्राणनाशः
21.	दृशक्षयः	तिमिरम्
22.	पक्षाघातः	पक्षवधः
23.	निद्रानाशः	अस्वप्नः

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गधर और चरकोक्त वात नानात्मज रोगों में कुछ-कुछ समानता पायी जाती है और शार्ङ्गधर ने कुछ नये प्रकारों का विवेचन किया है, इससे स्पष्ट है कि शार्ङ्गधर ने मौलिक चिन्तन भी किया है।

उपरोक्त तालिकाओं के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रायः चरक ने लक्षणों के आधार पर रोगवर्णित किए हैं और शार्ङ्गधर ने वातज रोगों का ही वर्णन किया है।

कफ नानात्मज विकार[2]

1. **तन्द्रा** : शरीर का भारी होना, इन्द्रियार्थों का ग्रहण न करना, थकावट होना तथा नींद से पीड़ित-सा नेत्रों का आधी बन्द आधी खुली होना तन्द्रा के लक्षण हैं।

2. **अतिनिद्रता** : स्वाभाविक नींद के अतिरिक्त देर तक सोना।

3. **गौरव** : शरीर का ऐसा मालूम होना मानो शरीर पर कोई गीला चमड़ा मढ़ा हो। सिर का कफ पूर्ण होकर भारी मालूम होने को भी गौरव कहते हैं।

4. **मुखमाधुर्य** : मुख के स्वाद का मधुर होना।

5. **मुखलेप** : कफ से मुख का पुता-सा रहना।

6. **प्रसेकता** : मुख की लालाग्रन्थियों से प्रचुर लालास्राव होना।

7. **श्वेतावलोकन** : सब पदार्थों का सफेद-सा दिखाई देना।

8. **श्वेतविट्कता** : मल का श्वेत रंग का होना।

9. **श्वेतमूत्रता** : मूत्र का श्वेत रंग का होना।

10. **श्वेतांग-वर्णता** : अंगों के वर्ण का श्वेत होना।

11. **शैत्य** : जाड़ा-सा बोध होना।

12. **उष्णेच्छा** : गरम चीजों की इच्छा होना।

13. **तिक्तकामिता** : तिक्त भोजन-पान की इच्छा होना।

14. **मलाधिक्य** : मल का अधिक परिमाण में होना।

15. **शुक्रबाहुल्य** : वीर्य का अधिक मात्रा में होना।

16. **बहुमूत्रता** : मूत्र का अधिक परिमाण में आना।

17. **आलस्य** : शक्ति रहते हुए भी काम करने का उत्साह न होना।

18. **मन्दबुद्धित्व** : बुद्धि का मन्द होना अर्थात् सोचने-विचारने की शक्ति का कम होना।

19. **तृप्ति** : खाने की इच्छा का न होना।

20. **घर्घरवाक्यता** : कण्ठ में घर्घर करते हुए बोलना तथा जड़ता।

शार्ङ्गधर ने जिन कफ नानात्मज विकारों का विवेचन किया है, उसमें से चार विकार चरक से बिल्कुल साम्यता रखते हैं। यह तालिका-1 से स्पष्ट है।

शार्ङ्गधर एवं चरकोक्त एक समान कफ नानात्मज विकार

तालिका-1

	चरक[3]	शार्ङ्गधर[4]
1.	तन्द्रा	तन्द्रा
2.	मलस्याधिक्यम्	मलाधिक्यम्
3.	आलस्यम्	आलस्यम्
4.	तृप्तिः	तृप्तिः

शार्ङ्गधर ने जो कफ नानात्मज विकार वर्णित किए हैं, उनमें से छः विकार ऐसे हैं जो कि चरक से अर्थों में तो साम्यता रखते हैं परन्तु कुछ-कुछ उनके नामकरण में भिन्नता पायी जाती है। यह तालिका-2 द्वारा स्पष्ट है।

शार्ङ्गधर एवं चरकोक्त कफ नानात्मज विकारों में से कुछ-कुछ समान रोग

तालिका-2

	चरक[5]	शार्ङ्गधर[6]
1.	निद्राधिक्यम्	अतिनिद्रा
2.	गुरुगात्रता	गौरवम्
3.	श्वेतावभासता च श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वम्	श्वेतावलोकनम्
4.	" " "	श्वेतविट्कता
5.	" " "	श्वेतमूत्रता
6.	" " "	श्वेताङ्गवर्णता

शार्ङ्गधर ने कफ नानात्मज विकारों में से 9 विकार चरक से बिल्कुल भिन्न कहे हैं। जो चरक में नहीं मिलते हैं। यह तालिका-3 द्वारा स्पष्ट है।

शार्ङ्गधरोक्त कफ नानात्मज विकारों में से चरक में वर्णित कफ नानात्मज विकारों से भिन्न नाम

तालिका-3

	चरक[7]	शार्ङ्गधर[8]
1.	स्तैमित्यम्	मुखलेपः
2.	मुखस्रावः	प्रसेकता
3.	श्लेष्मोग्दिरणम्	शैत्यम्
4.	बलासकः	उष्णेच्छा
5.	अपक्तिः	तिक्तकामिता
6.	हृदयोपलेपः	शुक्रबाहुल्यम्
7.	कण्ठोपलेपः	बहुमूत्रता
8.	धमनीप्रतिचयः	मन्दबुद्धित्व
9.	गलगण्डः	घर्घरवाक्यता
10.	अतिस्थौल्यम्	
11.	शीताग्निता	

इस प्रकार शार्ङ्गधर वर्णित कफ नानात्मज विकारों का चरक से तुलनात्मक विवेचन कर सकते हैं।

सन्दर्भ

1. शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड, अ० 7-105 से 114।
2. शार्ङ्गधर, पूर्वखण्ड, अ० 7-122 से 124।
3. चरक, सू०, अ० 20-17।
4. शार्ङ्गधर, पू०, अ० 7-122 से 124।
5. चरक, सू०, अ० 20-17।
6. शार्ङ्गधर, पू०, अ० 7-122 से 124।
7. चरक, सू०, अ० 20-17।
8. शार्ङ्गधर, पू०, अ० 7-122 से 124।

6

क्रियाशारीर का देह प्रविभाग

भारतीय क्रियाशारीरविदों ने अपना एक स्वतंत्र देह प्रविभाग स्वीकार किया है। उन्होंने हमारे सम्पूर्ण शरीर को दोष-धातु-मल इन तीनों वर्गों में स्थापित किया है। अनेक रूप गुणधर्मसम्पन्न बहुसंख्यक द्रव्यों की इन्ही तीन वर्गों में रखकर विवेचना की गयी है।

संहिताकारों ने इनको इस प्रकार सूत्रबद्ध करते हुए कहा है कि दोष, धातु और मल इस देह के मूलाधार हैं।[1]

अर्वाचीन क्रियाशारीरविदों में यह विभाजन सांस्थानिक आधार पर किया है, उनका विभाजन इस प्रकार है :

(1) देह परमाणु का वर्णन (दि सेल एण्ड दि सेल्युलर एन्वायरनमेन्ट)
(2) पाचन संस्थान (गेस्ट्रो इन्टेस्टाइनल सिस्टम)
(3) धात्वग्निपरक (मेटाबोलिज्म और मेटाबोलिक सिस्टम)
(4) रक्तवह संस्थान (कार्डियो वास्कुलर सिस्टम)
(5) मूत्रवह संस्थान (यूरिनरी सिस्टम)
(6) श्वसन संस्थान (रेस्पिरेटरी सिस्टम)
(7) नाड़ी तथा पेशी संस्थान (नर्वस् सिस्टम एण्ड मसलूस)
(8) इन्द्रिय संस्थान (स्पेशल सेन्सरी सिस्टम)
(9) प्रजनन संस्थान (रिप्रोडशन सिस्टम)
(10) अन्तर्मुख ग्रन्थी स्रोतस (एन्डोक्राइनोलाजी)

पाचन संस्थान

पाचन संस्थान के अन्तर्गत हम उन सभी अंगों का ग्रहण करते हैं जो आहार को पचाते हैं या आहारपाक में सहायता करते हैं। पचन की प्रक्रिया मुख से प्रारम्भ होती है। मुख के बाद आमाशय, ग्रहणी, पित्तधराकला, यकृत, अग्न्याशय, लघु मन्त्र और वृहद् मन्त्र आदि अंग आहार पचन में सहायक होते हैं। जिनके आहार से रस धातु बन कर शरीर का पोषण होता है।

शार्ङ्गधर ने सप्त आशयों का वर्णन किया है।[3] उनके अनुसार :

आशय	स्थान
(1) कफ का आशय उरस्	उर:प्रदेश
(2) आम व अपक्व अन्तरस का स्थान आमाशय	उरस् के नीचे
(3) अग्न्याशय	नाभि के बायीं ओर
(4) पवनाशय या वाताशय	अग्न्याशय के नीचे
(5) मलाशय	पवनाशय के नीचे
(6) मूत्राशय	मलाशय के नीचे
(7) जीव रक्ताशय	उर:प्रदेश

स्त्रियों में दो आशय अतिरिक्त पाये जाते हैं :

(1) गर्भाशय

(2) दो स्तन्याशय

इसके अतिरिक्त अग्न्याशय के ऊपर तिल या क्लोम का स्थान कहा है जो जलवाही शिराओं की जड़ है। यह प्यास का स्थान है। यहीं से प्यास लगती है।

आमाशय में अपक्व अन्तरस रहता है। अग्न्याशय को ग्रहणी का स्थान भी मानते हैं।[4]

पाचवाँ आशय मलाशय कहा है, इसमें पचा हुआ जो अन्न आता है। उसका अवशिष्ट सार यहीं सोख लिया जाता है और मल बाहर निकाल दिया जाता है। शार्ङ्गधर ने सात कलाओं का विवेचन करते हुए अग्निधराकला एवं यकृत व आन्त्र-कला का नामोल्लेख किया है। ये भी आहार पाचन में सहायक होते हैं।[5]

आहार पाकक्रम

त्रिविध अवस्थापक

शार्ङ्गधर के अनुसार हम जो कुछ पाञ्चभौतिक आहार को मुख द्वारा ग्रहण करते हैं, वह प्रथम प्राणवायु के द्वारा आहार नली से होता हुआ आमाशय में जाता है। आमाशय क्लेदन कफ का स्थान है जो कि आहार को क्लिन्न करता है।

यद्यपि यह आहार छः रसों वाला होता है तो भी कफ के संयोग से मधुर रस बाहुल्य को प्राप्त होता है।[6]

इसके बाद पाचक पित्त द्वारा भोजन का रस विदग्ध होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है। शार्ङ्गधर की मान्यता है कि यह अवस्था पित्ताशय के समीप पहुँचने पर होती है। फिर समान वायु उस विदग्ध हुए अन्न को ग्रहणी में ले जाता है। ग्रहणी में यह कोष्ठाग्नि से पकता है और कटुरसयुक्त हो जाता है। यह कटु अवस्था पाक है।[7]

अन्त में शार्ङ्गधर ने बतलाया है कि अग्निबल से यह रस परिवर्तित होकर मधुरता और स्निग्धता प्राप्त करता है। यह ठीक-ठीक बना हुआ रस अमृत के तुल्य होता है क्योंकि शरीर के सब धातुओं की पुष्टि और पालन यही रस करता है।[8]

चरक के अनुसार त्रिविध अवस्थापक निम्न प्रकार है :

भोजन किए गए षड्रस अन्न का प्रथम पाक में पूर्ण मधुर-भाव होता है। उससे झाग के सदृश कफ उदीर्ण होता है। अभिप्राय यह है कि अन्न का कुछ भाग तो मुख में ही और कुछ आमाशय में लाला की क्रिया से शर्करा बन जाता है। इस प्रकार अन्न के पाक में सबसे पूर्व माधुर्य की अधिकता होती है। मधुरता की अधिकता से इस समय कफ की वृद्धि होती है।[9]

तदनन्तर वह पचता हुआ अन्न विदग्ध होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है। यह अम्लीभूत अन्न जब आमाशय से निकल कर पच्यमानाशय में जाता है, तब स्वच्छ पित्त उदीर्ण होता है। अभिप्राय यह है कि आमाशय में आहार पर लाला की क्रिया के बाद आमाशय का रस (गेस्ट्रिक जूस) क्रिया करता है। यह रस खट्टा होता है जिससे कुछ आहार का रस खट्टा हो जाता है। अब आमाशय से निकल कर आहार ग्रहणी में जाने लगता है। ग्रहणी में अन्न के साथ क्षुद्रान्त्रीय रस और अपनी-अपनी प्रणाली से आकर पित्त और एक दूसरा पाचक रस (क्लोम रस) मिलता है। इनमें से पित्त कड़वा होता है।[10]

जब मुक्त आहार पक्वाशय में प्राप्त होता है और वह अन्न द्वारा सुखाया जाता है तब पक कर पिण्डित हो जाता है। इसके कटुभाव के कारण इस समय वायु की वृद्धि होती है। आहार के साथ उदीर्ण पित्त के मिलने से उसका रस तो कटु हो ही जाता है। पक्वाशय में अन्न का पूर्ण पाक होता है और यहाँ ही आहार रस की आत्मीकरण की क्रिया सबसे अधिक होती है।[11]

इस प्रकार उष्ट ग्रन्थ आदि से युक्त प्रिय और हितकर अन्न देह में पृथक् गन्ध आदि गुण तथा प्राण आदि इन्द्रियों एवं शरीर का तर्पण करता है।[12]

सुश्रुत के अनुसार आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है क्योंकि कफ का स्वभाव पित्त के विरुद्ध है एवं पित्त अग्नि गुण होने से ऊर्ध्वगामी है, पानी अधो-

गामी होने से अग्नि को शान्त करता है। इसलिए आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है। यह आमाशय चारों प्रकार के आहार का आधार है और यह चार प्रकार का आहार पानी के द्रवस्नेह आदि गुणों के कारण आर्द्र बनकर टुकड़े-टुकड़े होकर सुगमता से पचने योग्य हो जाता है।[13]

आहार के मधुर पिच्छिल, क्लिन्न होने से, मधुर शीतल कफ आमाशय में उत्पन्न होता है। आमाशय में स्थित यह कफ भेष श्लेष्म स्थानों में स्थित श्लेष्मा का तथा क्लेदन-पूरण आदि उदक के कार्यों से शरीर का उपकार करता है।[14]

खाया हुआ, पिया हुआ आदि चार प्रकार का भोजन कोष्ठ में पहुँचता है और वहाँ पहुँचकर पित्त की उष्णिमा से सुखाया जाकर यथासमय में सुखपूर्वक पचता है।[15] यह पित्त पित्तधरा कला में स्थित रहता है और वहाँ से निकलकर पाचन करता है। पित्तधरा का कार्य चारों प्रकार के खाये अन्न-पान को आमाशय से निकालकर पक्वाशय में जाने के लिए धारण करती है। इसी को ग्रहणी कहते हैं।[16]

वाग्भट्ट के अनुसार आमाशय में स्थित क्लेदक कफ आहार को क्लेदन के द्वारा जोड़ता है और पक्वाशय व आमाशय के बीच में स्थित छठी पित्तधरा कला जो अन्तराग्नि का अधिष्ठान है, वह अन्न को आमाशय से पक्वाशय में ले जाकर पचाता है और पक्व अन्न को आगे पहुँचाता है, इसी कारण इसकी ग्रहणी संज्ञा पड़ी।[17]

काश्यपसंहिता के अनुसार वामस्तन के नीचे आमाशय स्थित होता है। वहाँ पर अन्न का पाक होता है और पाक होकर रस बनता है, जिससे धातुओं का पोषण होता है और किट्ट भाग मल रूप में उत्पन्न होता है।[18]

शार्ङ्गधर की अग्न्याशय सम्बन्धी मौलिक खोज

शार्ङ्गधर संहिता से पूर्ववर्ती संहिताओं जैसे चरक, सुश्रुत एवं अष्टांग हृदय आदि में अग्न्याशय शब्द का प्रयोग एवं उसकी शारीरिक उपयोगिता के विषय में लेशमात्र भी वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

केवल शार्ङ्गधर संहिता में पित्त के प्रकरण में पित्त का स्थान व कार्य बतलाते हुए अग्न्याशय का उल्लेख किया है।

'अग्न्याशये भवेत्पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्'[19]

उपरोक्त श्लोक का अर्थ यह है कि पित्त अग्निरूप में तिलपरिणामवत् अग्न्याशय में रहता है।

शार्ङ्गधर संहिता के व्याख्याकार श्री प्रयागदत्त शर्मा जी ने विमर्श में लिखा है कि पाचक पित्त बड़े शरीर वाले जीवों के जौरूप, छोटे जीवों में तिलरूप और

कृमिकीटादि जीवों में बालरूप की थैली में रहता है ।[20]

आढमल्ल ने विरचित दीपिका टीका में कहा है कि :—

"अग्न्याशये पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितमन्यरूपं च वदन्त्येके"

पं० काशीराम वैद्य ने विरचित गूढार्थदीपिका में कहा है :

"अग्न्याशये यत्पित्तं भवेत् तत्पाचकं ज्ञेयं । किंभूतं अग्निरूपम्, पुनः किंभूतं तिलोन्मित तिलप्रमाणम् ।"

अग्न्याशय शब्द का प्रयोग अब तक केवल शार्ङ्गधर में ही मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार आयुर्वेद में क्लोम को अग्न्याशय कहा जाता है ।[21] परन्तु जिस प्रकार अग्न्याशय शब्द से इस अवयव में अग्नि होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। क्लोम शब्द से वैसा संकेत प्राप्त नहीं होता।

आयुर्वेद में ओज के द्वारा बल या शक्ति (Inergy) की उत्पत्ति कही गयी है। ओज प्रत्येक धातु[22] में और उसके सूक्ष्म अंश में भी होता है ।[23] आहार या रस आदि का रूपान्तर करने का कार्य अग्नियों का माना गया है। अग्नियाँ भी बहु-संख्यक हैं। प्रत्येक धातु की अग्नि उस धातु के सूक्ष्म अंश में भी होती है। इसी के प्रभाव से ओज के द्वारा शक्ति या बल की उत्पत्ति होती है।

उपरोक्त तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त कुछ प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं जैसे :

1. अग्न्याशय का ज्ञान शार्ङ्गधर ने किस प्रकार प्राप्त किया जबकि पूर्ववर्ती संहिताओं में इसका कोई उल्लेख नहीं है।
2. माना कि शार्ङ्गधर ने अग्न्याशय के स्राव का वर्णन नहीं किया है। फिर भी तिलोन्मित अग्नि होती है, इसका ज्ञान कैसे प्राप्त किया।

प्रथम प्रश्न के समाधान में हम यही कह सकते हैं कि यह शार्ङ्गधर की एक आयुर्वेद जगत् को अनुसन्धानात्मक देन है। इसका उन्होंने किसी भी प्रकार अन्वेषण किया हो अग्न्याशय को उन्होंने प्रत्यक्ष अवश्य किया होगा क्योंकि बिना प्रत्यक्ष देखे हुए तिल के समान आकार 'तिलोन्मितम्' तथा उसके स्राव को भी तिलपरिमाणवत् बतलाया है। यह नितान्त असम्भव है। बड़े आश्चर्य की बात है कि महर्षि सुश्रुत ने भी अग्न्याशय का वर्णन सुश्रुत में नहीं किया है।

यहाँ पर शार्ङ्गधर ने जो पित्त के अन्तर्गत अग्निरूप मानकर भोजन के पाचन आदि कार्य भी बतलाये हैं। 'तिलोन्मित' अग्नि शार्ङ्गधर ने जो कही है, वह आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खरी उतरती है। अग्न्याशय (पेन्क्रियाज) का अन्तःस्राव (इन्सुलीन) की मात्रा तिलोन्मित अर्थात् सूक्ष्म मात्रा आज भी वैज्ञानिकों ने पाई है।

सी० सी० चटर्जी ने अपनी पुस्तक ह्यूमन फिजियोलोजी में पेन्क्रियाज के अन्तःस्राव (इन्सुलीन) की मात्रा लगभग 1.7 यूनिट (Unit) इन्सुलिन प्रति ग्राम

कहा है।[24]

इसके साथ ही पेन्क्रियाज का वाह्यस्राव जो अग्न्याशय स्राव के रूप में निकलता है, उसे हम पित्त के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं। वर्तमान समय में जो अग्न्याशय के विभिन्न कोषों जैसे—बी-सेल आदि का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है, जिनसे इन्सुलीन उत्पन्न होती है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि शार्ङ्गधर ने शवच्छेदन द्वारा तथा विभिन्न परीक्षणों द्वारा ही मौलिक खोज करके हमें अग्न्याशय एवं उसके कार्यों के विषय में बतलाया था जो कि आज भी अक्षरशः सत्य है।

चरक में अग्न्याशय का कार्य अग्नियों के द्वारा सम्पन्न माना गया है।[25] तथा ग्रहणी को अग्न्याशय का पर्याय शब्द भी कह सकते हैं। क्योंकि ग्रहणी को अग्नि का अधिष्ठान भी कहा गया है।[26]

मूत्रवह संस्थान

मूत्र सम्बन्धी अवयव : शार्ङ्गधर के अनुसार वृक्क दो हैं, इनका कार्य जठरस्थ भेद की पुष्टि करना है।[27] अथर्ववेद में मूत्र का स्थान गुर्दों में स्थित तथा मूत्र को मूत्राशय तक पहुँचाने वाली गवीनी और बस्ति को कहा है।[28]

चरक ने मूत्रवह स्रोतों का मूल बस्ति और वंक्षण कहा है।[29] सुश्रुत के अनुसार मूत्रवह दो हैं (1) बस्ति, (2) मेढ्र।[30]

मूत्र-निर्माण प्रक्रिया : शार्ङ्गधर ने मूत्र-निर्माण प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि आहार का सार रसधातु है और जो असार पदार्थ बच जाता है, उस सारहीन मलद्रव में से द्रवांश का शोषण आन्त्र से होकर वह द्रव शिराओं द्वारा बस्ति में ले जाया जाता है।[31]

मलद्रव शब्द का तात्पर्य : यहाँ शार्ङ्गधर द्वारा प्रयुक्त मलद्रव शब्द ध्यान देने योग्य है। यह शब्द अन्य ग्रन्थों में देखने में नहीं आता है। वस्तुतः अन्न का सारभाग तो सारद्रव के रूप में पच्यमानाशय द्वारा शोषित हो जाता है। अवशिष्ट असार भाग द्रवयुक्त होकर पक्वाशय में पहुँचता है। अन्नसार में भी द्रव होता है और असार में भी द्रव होता है। अन्नसार का सारद्रव रसधातु के रूप में तथा मलद्रव मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकलता है। ऐसा शार्ङ्गधर के मलद्रव का अभिप्राय है। यही द्रव पक्वाशय से शोषित होता है और क्लेद के रूप में प्रवाहित होता हुआ मूत्र आदि का रूप ग्रहण करता है।

सुश्रुत के अनुसार नाभि, पृष्ठ, कटि, अण्डकोष, गुदा, वंक्षण और शेफ (शिश्न) इनके मध्य में नीचे की ओर मुख किए एक द्वार वाली बस्ति है। बस्ति की त्वचा बहुत पतली है। बस्ति मूत्र से खाली होने पर अलाबु (लौकी) के समान

रूप वाली है। बस्ति में सिरा स्नायु का जाल है। बस्ति, शिर पौरुष (शिश्न या भाग) वृषण और गुदा में एक समान आश्रय देने वाले हैं अर्थात गुदास्थि विवर में स्थित है।[32]

मूत्राशयरूपी मलाधार (किट्टरूप मल का आश्रय) और प्राणों का श्रेष्ठ स्थान है। इस पक्वाशय में रहने वाली मूत्रवह नाड़ियाँ मूत्र द्वारा बस्ति को सदा भरती रहती हैं। जिस प्रकार कि नदियाँ सागर को भरती हैं। इन नाड़ियों के हजारों मुख सूक्ष्म होने के कारण पता नहीं लगते। आमाशय तथा पक्वाशय के बीच से नाड़ियों द्वारा लाये हुए मूत्र के निःस्यन्द (मन्द-मन्द क्षरण) से जागृत एवं स्वप्नावस्था में (रात-दिन) बस्ति भरती रहती है। जिस प्रकार कि नये घड़े को गले तक पानी में डुबोकर रखने पर पार्श्वों से पानी रिस-रिसकर घड़े को भर देता है, उसी प्रकार मूत्र द्वारा बस्ति भरती है।[33]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मूत्र की रचना तथा निर्गमन में भाग लेने वाले अवयव इस प्रकार हैं। दो वृक्क (किडनीज), दो गवीनियाँ (यूरेटर्स), एक बस्ति (मूत्राशय या ब्लेडर), एक मूत्रप्रसेक (पूरेक्षा)। इनमें वृक्क उदरगुहा में दक्षिण और वाम दोनों वार्श्वों में एक-एक होता है। वृक्कों की आन्त्र नाम की प्रणालियों द्वारा मूत्र का निर्माण होता है। ये प्रणालिकायें संख्या में सहस्रों होती हैं। अतिसूक्ष्म होने से इनके मुख दिखाई नहीं देते। सहस्रों नदियों का प्रवाह जैसे सर्वदा समुद्र को तृप्त किया करता है। वैसे इनसे निर्मित मूत्र निरन्तर मूत्राशय को आपूरित करता रहता है। उनकी क्रिया दिन-रात, मनुष्य सोता हो या जगता हो, चलती रहती है। नये घड़े को मुखपर्यन्त जल में रखें तो जैसे उसके अतिसूक्ष्म छिद्रों से रिस-रिसकर जल कालक्रम से सम्पूर्ण घड़े को भर देता है, वैसे अन्त्रों के सूक्ष्म छिद्रों से रिसकर मूत्र प्रथम वृक्कों का तथा पीछे गवीनियों द्वारा बस्ति को संपूरित किया करता है।

श्वसन संस्थान

प्राणवायु का शरीर-व्यापार निर्देश

दोषों से सम्बन्धित 'प्राण' का दो रूपों में मिला-जुला वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। एक प्राणद्रव्य के रूप में प्राणवायु[34] दूसरा सिर उरस् आदि में क्रियाकारक द्रव्य के रूप में प्राण।[35]

शार्ङ्गधर ने इनमें से प्रथम का अर्थात् प्राणवायु का पृथक् से स्पष्ट उल्लेख किया है।

शार्ङ्गधर संहिता से पूववर्ती संहिताओं में प्राणवायु का विष्णुपदामृतम्

(आक्सीजन) का उपयोग विश्वासक्रिया में और कार्बनडाइआक्साइड को उच्छ्वास के द्वारा निकालने की प्रक्रिया का वर्णन कहीं नहीं प्राप्त होता है। केवल शार्ङ्गधर संहिता में ही इसका वर्णन करते हुए कहा है कि किस प्रकार वायु के संयोग से धातुपोषण होता है तथा किस प्रकार श्वसनक्रिया द्वारा विष्णुपदामृत (आक्सीजन) शरीर के भीतर जाकर समस्त शरीर को आप्यायित करता है तथा अग्नि को प्रज्वलित करता है।[37] यहाँ पर शार्ङ्गधर ने विष्णुपदामृत (ओषजन) को अग्नि से सम्बन्ध करते हुए उच्छ्वास-निःश्वास की प्रक्रिया लिखी है।

चरक संहिता में इस प्रकार श्वास-प्रश्वास का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन नहीं प्राप्त होता है। केवल वायु के कर्म के रूप में उच्छ्वास और निःश्वास को बताया है।

सुश्रुत ने उच्छ्वास को उदान वायु का कार्य बतलाया है। उनके अनुसार जो श्रेष्ठ वायु ऊपर को जाती है। उसका नाम 'उदान' है इनके स्थान नाभि, उर और कण्ठ हैं। इस वायु के द्वारा ही—भाषण, गाना, उच्छ्वास आदि विशेष होते हैं।[38]

वाग्भट्ट ने उच्छ्वास व निःश्वास को प्राण वायु के कार्य रूप में वर्णित किय है।[39]

सन्दर्भ

1. दोषधातुमलमूत्रं हि शरीरं —सुश्रुत सू० अ० 15-3

   × × ×

   दोष-धातु-मल मूत्रं, सदा देहस्य —अष्टांग सं० सू० अ० 11-1

2. दोष-धातु-मल मूत्रो हि देहः। —अष्टांग संग्रह सू० अ० 19-1

3. श्लेष्माशयः स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वधः ॥
   ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेवामभागे व्यवस्थितः।
   तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः ॥
   मलाशयस्त्वधस्तस्माद् बस्तिर्मूत्राशयस्त्वधः।
   जीवरक्ताशयभुरो ज्ञेयाः सप्ताशयास्त्वमी ॥ —शार्ङ्गधर पूर्व 5-7 से 9

4. "अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
   नाभेरूपरि स ह्यग्निबलोपस्तम्भवाहि च ॥"
   —शार्ङ्गधर पूर्व 5-8 की टिप्पणी

5. "मांसासृङ्मेदसां तिस्रो यकृत्प्लीह्नोश्चतुर्थिका ।
पञ्चमी च तथाऽन्त्राणां षष्ठी चाग्निधरा मता ।
रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्तकला स्यता ।।" —शार्ङ्गधर पूर्व० 5-6
6. "यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः ।
माधुर्यं केनभावं च षड्सोऽपि लभेत सः ।।" —शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 6-1
7. अथ पाचकपित्तेन विदग्धश्चाम्लतां व्रजेत् ।
ततः समानमरुता ग्रहणीमभिनीयते ।
ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठवह्निना जायते कटु ।। —शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 6-2
8. वह्नेर्बलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति यद्रसः ।
पुष्णाति धातूनखिलान्सम्यक्पक्कोऽमृतोपमः ।। —शार्ङ्गधर पूर्व० 6-4
9. "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुरात्प्राक् कफो भावत्केनभूत उदीर्यते ।।" —चरक चि० 15-8
10. "परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्ल भावतः ।
आशयाच्चवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ।।" —चरक चि० 15-9
11. "पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटु भावतः ।।" —चरक चि० 15-10
12. अन्नमिष्टं ह्यु पहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च । —चरक चि० 15-11
13. "तत्र आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसः, चन्द्र इव आदित्यस्य, चतुर्विधस्याहारस्याधारः, स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति ।।"
14. "माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च् प्रक्लेदित्वात्तथैव च ।
आमाशयं संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ।
स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ।—सुश्रुत सू० 21-13 व 14
15. "अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ।
तज्जीर्यति यथाकालं शोणितं पित्ततेजसा ।—सुश्रुत शा० 4-19
16. षष्ठी पित्तधरा या चतुर्विधमन्नपातमामाशयात् प्रच्युत पक्वाशयोपस्थित धारयति ।—सुश्रुत शा० 4-18
17. ……'यस्त्वामाशयसंथितः ।
क्लेदक सोऽन्नसंघात क्लेदनात्…।। अ० द० सू० 12-197

× × ×

षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वाशयमध्यस्था । सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्न बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च

विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा।।—अष्टांगसंग्रह, शा० 5

18. "स्तनस्य वामस्य भवत्यधस्त दामाशयस्तत्र विपच्यतेऽन्नम्।
धातून् रसः प्रीणयते विसर्पन् किट्टान्मलानां प्रभवोऽखिलानाम्।।"
काश्यपसंहिता कल्पस्थान भोजनवक्पाध्याय-56

19. शार्ङ्गधर पू० अ० 5-30।

20. **पाचक पित्त प्रमाणम्**
"स्थूलकायेषु सत्वेषु यवमात्रं प्रमाणतः।
ह्रस्वमाशेषु सत्वेषु तिलमात्रं प्रमाणतः।।
क्रमिकीय्यङ्गेषु बालमात्रं हि तिष्ठति।।"

शार्ङ्गधर विमर्श, पृ० 48

21. "रक्तभेदः प्रसादात् वृक्कौ, मांसासृक्कफमेदः प्रसादात् वृषणौ, शोणितकफ-प्रसादत्रं हृदयं, यदाभुया हि धमन्यः प्राणवहाः, तस्याधो वामतः प्लीहा फुस्फुश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च···।" सुश्रुत शा० 4-31

22. "धातु कोशा या cell"

23. "···तथैवौजश्च सप्तमम्। इति धातुभवा ज्ञेयाः संप्तैत उपधातवः।।
शार्ङ्गधर पू० 2/17

× × ×

ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थिरं मतं।
सोमात्मकं शरीरस्य कर मतम्।।" शार्ङ्गधर पू० 5/18

24. एक यूनिट = 0.040% मि० ग्रा०।

25. "पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्थात्कटु भावतः।" चरक चि० 15-10

26. अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणीयतः।
नाभेसपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता।। चरक चि० 15-55

27. "वृक्कौ तुष्टि करौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः।।" —शार्ङ्गधर पूर्व० 5/47

28. "यदान्त्रेषु गवीन्योर्मद् बस्तावधि संश्रितम्। —अथर्व० 3/6

29. "मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च।। —चरक निमान अ० 5-8

× × ×

"वस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कमेवनीशुक्रैमूत्रवृद्धिनीनां नालीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहनानां सर्वस्रोतसामुदधि रिवापगानां प्रतिष्ठा।।

—चरक सिद्धि० 9-4

30. "मूत्रवहे (स्रोतसी) हे, तयोर्मूलं वस्तिमेढ्रं च।" —सुश्रुत शा० 9-12

31. "आहारस्य रसः सारः सारहीनोः मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्।।"—शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 6-6

32. "नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफ साम् ।
एकद्वारस्तुनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः ।।
अलाब्बा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणो गुदः ।
एकरुबन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवराश्रिताः ।।"

—सुश्रुत निदान 3-18 व 19

33. मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ।।
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रक्हास्तु याः ।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागर यथा ।
सूक्ष्मत्वान्तोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
नाडीभिरूपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ।।
जागृतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देव पूर्यते ।
आमुखात्सलिले त्यस्तः याश्र्वेभ्यः पूर्यते नवः ।।

—सुश्रुत निदान 3-20 से 23

34. "स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।" —चरक सू० अ० 18-117

35. "क्रियाणामप्रतिघातं अमोहं बुद्धिकर्मणाम् करोत्यन्यान्मुश्चापि स्वाः शिराः पवनश्चरन् ।। —सु० शा० अ० 7-8

× × ×

"स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठ-जिह्वास्य-नासिकाः ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाऽऽहारादि कर्म च ।।" —चरक चिकि० अ० 28-6

36. "नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ।।
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।।
प्रीणयन्देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम् ।" —शार्ङ्गधर पूर्व० अ० 5-51

37. "उत्साहोच्छ्वासनिः श्वासचेष्टा धातुगतिः समा । समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ।।" —चरक सू० अ० 18-48

38. "उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ।" —सुश्रुत निदान 1-14

39. "तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गार प्रश्वासोच्छ्वासान्न प्रवेशादिक्रिम ।।

—अष्टांग संग्रह सू० अ० 20-2

7

मानव प्रकृति

प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से विशेषता रखता है। इस विशिष्टता को ही उसकी प्रकृति कहा जाता है।

वात-पित्त और कफ ये तीनों द्रव्य मानव शरीर और मानव मस्तिष्क दोनों को प्रभावित करते हैं। इनका यह प्रभाव दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—(1) जन्मजात या सहज, (2) जन्मोत्तर।

जन्मोत्तर प्रभाव अल्पकालिक अस्थायी होता है। जैसे भोजनादि के उपरान्त अल्पकालिक श्लेष्मा बढ़कर मस्तिष्क में निद्रा-तन्द्रा-गुरुता आदि का उत्पन्न होना। कुछ समय बाद यह प्रभाव दूर हो जाता है। वात-पित्त श्लेष्मा के ये प्रभाव परिवर्तनशील होते हैं।

दूसरा प्रभाव जन्मजात या सहज है। यह प्रभाव शुक्र शोणित संयोग के समय होता है। फिर गर्भ में पुष्ट होकर और जन्म के उपरान्त आमरण बना रहता है। परन्तु प्रकृति में परिवर्तन तभी होता है जब प्राणी की आयु नष्ट हो चुकी होती है।[1] इससे मनुष्य का स्वभाव बनता है। अतः गर्भस्थापना के समय से शरीर व मन पर जो शुभ-अशुभ प्रभाव आता है, उसे उस मनुष्य की प्रकृति कहते हैं। शुक्र व आर्तव में जिस दोष की प्रधानता होती ही वही दोष प्रकृति को बनाता है।[2] यदि एक दोष की प्रधानता हो तो एक दोषज वातादि प्रकृतियाँ बनती हैं। यदि दो दोषों की प्रधानता हो तो द्विदोषज वात-कफज आदि प्रकृतियाँ बनती हैं और यदि तीनों दोषों की समावस्था हो तो समप्रकृति का निर्माण होता है।

शुक्र व आर्तव में प्रकृति का निर्णय करने वाला जो तत्व है उसे आधुनिक विज्ञान में Genes नाम दिया है। प्रत्येक प्राणी की चरित्र सम्बन्धी विशेषता तथा शारीरिक गठन इसी पर निर्भर करता है तथा आयुर्वेदज्ञ इसे ही दोष की उत्कटता कहते हैं ।[3]

प्रकृति भेद

(1) **दोषानुसार प्रकृतियाँ :** प्रकृतियाँ दोषानुसार सात होती हैं। पृथक्-पृथक् दोषों के द्वारा तीन, दो दोषों के मिलने से तीन तथा सभी दोषों के मिलने से एक प्रकृति बनती है। इस प्रकार वातज, पित्तज, कफज, वात-पित्तज, वात-कफज, कफ-पित्तज तथा सम यह सात प्रकृतियाँ हैं ।[4]

(2) **पंचमहाभूतानुसार प्रकृतियाँ :** प्रकृति को पंचमहाभूतयुक्त भी कहते हैं। इनमें से अग्नि, जल, वायु की प्रधानता वाली प्रकृतियाँ पित्त, कफ तथा वात में कह दी हैं तथा इसके अतिरिक्त नाभस और पार्थिव दो प्रकृति और हैं। इस प्रकार वायव्य, आग्नेय, आप्य, पार्थिव और नाभास पाँच प्रकृतियाँ हैं।

(3) **त्रिगुणानुसार प्रकृतियाँ :** सत्वादि के आधार पर प्रकृतियाँ सोलह प्रकार की हैं।

सत्व शरीर वाली	—	सात
राजगुणयुक्त	—	छः
तामस	—	तीन

(क) **सत्वगुण युक्त सात प्रकृतियाँ :** ब्रह्मकाय, महेन्द्रकाय, वारुणकाय, कोवेरकाय, गन्धर्वकाय, ऋषिकाय, याम्यसत्व ।[5]

(ख) **राजस गुणयुक्त छः :** आसुर प्रकृति, गर्भसत्व, शाकुनसत्व, राक्षस प्रकृति, पिशाच प्रकृति व प्रेत प्रकृति।

(ग) **तामस प्रकृति तीन :** पशु प्रकृति, मत्स्य प्रकृति, वात स्पत्य प्रकृति ।[6]

वात प्रकृति

शार्ङ्गधर के अनुसार वात प्रकृति का पुरुष कम बालों वाला होता है क्योंकि वायु के रुक्ष होने से त्वचा भी रुक्ष हो जाती है तथा इस कारण से बाल भी अल्प मात्रा में उत्पन्न होते हैं। शरीर कृश होता है क्योंकि वात के रुक्ष गुण के कारण शरीर हृष्ट-पुष्ट नहीं होने पाता। शरीर रुक्ष होता है। वायु के चल गुण के

कारण वह पुरुष अधिक बोलने वाला तथा चंचल मानस वाला होता है। वायु स्वभावतः आकाश में रहता है। अतः वह व्यक्ति स्वप्न में आकाश में पक्षीवत् उड़ता है।[7]

अन्य संहिताकारों ने वात प्रकृति पुरुष के लक्षणों का निम्न प्रकार वर्णन किया है :

चरक के अनुसार वात प्रकृति पुरुष वात, रुक्ष, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष और विभद गुणयुक्त है। इनके शरीर दुबले-पतले होते हैं। कण्ठस्वर रूखा निर्बल धीमा रुक-रुककर निकलता है। कम निद्रा वाले, स्वभावतः चौकन्ने। शारीरिक चेष्टायें सहज ही स्फूर्ति के साथ होती हैं। शरीर के अंग अस्थिर रहते हैं अर्थात् हिलते-डुलते रहते हैं। अधिक बोलने वाले, कण्डराओं में जाल उभरे होते हैं। इन्हें भय, प्रेम व विरक्ति जल्दी-जल्दी होती है। ये बात को जल्दी ग्रहण कर भूल भी शीघ्र ही जाते हैं। शीतल आहार-विहार को सहन नहीं कर पाते हैं। परुषता के कारण इनके सिर, मूँछ, नाखून, दाँत तथा अन्य अवयव कठोर, आर्द्रतारहित, शुष्क और कटे-फटे से रहते हैं। वातज व्यक्ति अल्पशक्ति, अल्पायु, अल्पसन्तान और भाग्यहीन पाये जाते हैं।[8]

सुश्रुत के अनुसार वातप्रकृति वाले पुरुष, धैर्यहीन उपकार को न मानने वाला, दुबला-पतला वाचाल, घुमक्कड़ अस्थिर होता है। सोते हुए इसे आकाश में अचानक उड़ने के स्वप्न आते हैं। ऐसे व्यक्ति का चित्त अस्थिर, दृष्टि चंचल होती है। यह धन-वैभव का संग्रह बहुत कम कर पाता है। इनके मित्र कम तथा शोक के समय असम्वद्ध प्रलाप किया करता है। वात प्रकृति वाले मनुष्यों का स्वभाव बकरा, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊँट, कुत्ता, गधा, गिद्ध, कौआ आदि के स्वभाव और चाल-ढाल के साथ देखने में आता है।[9]

भेलसंहिता के अनुसार वात प्रकृति का मनुष्य ह्रस्व कद का, अल्पाकृति और चंचल होता है। गप्पी लोगों के साथ रहना पसन्द करता है। इसके हाथ-पैर अनुपात में विषम और ढीले-ढाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति समूह बनाकर रहते हैं। ये क्लेशसहिष्णु और आराम चाहने वाले भी होते हैं। इनकी त्वचा रूखी सिर के बाल और त्वचा कठोर कर्कश होती है। इसे स्वप्न में ऊँट की सवारी या आकाश में उड़ने के स्वप्न आते हैं। इनको स्निग्ध आहार-विहार अनुकूल होता है। जो मनुष्य ताप को सह जाते हैं उन्हें वात प्रकृति वाला मानना चाहिए।[10]

वाग्भट्ट के अनुसार वात प्रकृति वाला पुरुष अपने दोष और गुणों के कारण अल्पप्राण, कम सामर्थ्य, अल्पवित्त और अल्पनिद्रा वाला होता है। इसकी वाणी पतली और कमजोर होती है। यह अधिक खाता है, अधिक बोलता है। इसकी आत्मा परमात्मा, वेद शास्त्र धर्म आदि में आस्था नहीं होती है। सोते समय इसकी आँखें कुछ-कुछ खुली रहती हैं और मुखाकृति भद्दी लगती है। यह खर्राटे

भरता है और सोते-सोते चौंक जाता है तथा स्वप्न में सूखी हुई नदियों, ऊँचे-नीचे पहाड़ों की चोटियों और सूने आकाश में विचरण करता है।[11]

पित्त प्रकृति

शार्ङ्गधर के अनुसार पित्त प्रकृति के मनुष्यों के बाल अकाल में ही पक जाते हैं क्योंकि पित्त की ऊष्मा से बाल शीघ्र पकते हैं। वह बुद्धिमान होता है क्योंकि पित्त सत्वगुण प्रधान है। उसे श्वेद बहुत अधिक आता है इसमें भी पित्त की ऊष्मा कारण है। वह क्रोधी होता है। पित्त का तेजगुण युक्त होना इसमें कारण है। उसे स्वप्न में चन्द्र, तारा, उल्का आदि ज्योतियुक्त पदार्थ दीख पड़ते हैं।[12]

अन्य संहिताकारों ने पित्त प्रकृत्ति के मनुष्यों के लक्षण निम्न प्रकार कहे हैं। चरक के अनुसार पित्त उष्ण-तीक्ष्ण-द्रव-विस्र-अम्ल और कटु गुणयुक्त होता है। उसकी उष्णता से पित्तल व्यक्ति, गर्मी को न सह सकने वाले—मुख पर गर्मी शीघ्र अनुभव करने वाले और कोमलांग होते हैं। भूख-प्यास इन्हें विशेष सताती है। शरीर पर झुर्रियाँ होना, बाल सफेद पड़ना, सिर के बाल गिरने लगना, ये विकार इन्हें शीघ्र होते हैं। ये स्वभाव से तेज और अधिक पराक्रमी होते हैं। इन्हें पसीना, अन्त्रमल और मूत्र अधिक मात्रा में आते हैं। पसीने में दुर्गन्ध भी आती है। इनमें शुक्र और पौरुष की कमी तथा सन्तानें भी कम होती हैं। आयु मध्यम, ज्ञान-विज्ञान धन-साधन भी इनके पास साधारण ही रहते हैं।[13]

सुश्रुत के अनुसार पित्त प्रकृति के व्यक्ति का पसीना दुर्गन्धित, वर्ण पीला, नख-नेत्र-तालु-जीभ-ओठ-हथेली और तलवे ताम्र वर्ण के रहते हैं। गर्मी अधिक लगती है। ये क्रोधी, बुद्धिमान, विश्लेषक, तेजस्वी होते हैं। स्वप्न में प्रायः धतूरा, टेसू, अमलतास आदि में फूले हुए पेड़ों का और आग-बिजली-उतकापात आदि का दर्शन करता है।

गन्धर्व यक्ष जाति के लोगों और सर्प, बिल्ली, बन्दर, बाघ, भालू, न्योला, उल्लू आदि पशु-पक्षियों के स्वभावों के साथ, पित्त प्रकृति के व्यक्ति सादृश्य रखते हैं।[14]

भेलसंहिता के अनुसार पित्त प्रकृति का व्यक्ति प्रचण्ड स्वभाव प्रत्येक कार्य को शीघ्रता से करने वाला होता है। इनका पाचन तीव्र, नेत्र कुछ गोलाकार होते हैं। मध्यम सामर्थ्य वाले, इन्द्रियों के कार्य भी मध्यम होते हैं। अम्ल रसों में अरुचि होती है तथा शीतल आहार-विहार, निवास स्थान और जलवायु इन्हें रुचिकर होती है। इनके शरीर का वर्ण गहरा होता है। पित्त प्रकृति का व्यक्ति शीतल जल आदि को सहन कर लेता है।[15]

वाग्भट्ट के अनुसार पित्त प्रकृति के व्यक्ति का शरीर गौरवर्ण और गर्म रहता है। केश और लोम चरख पशुवत् पीलापन लिये हुए, कोमल होते हैं। यह पराक्रमी और अभिमानी होता है। यह मीठे-कड़वे-कसैले ठण्डे पदार्थों में रुचि रखता है और ये इसके अनुकूल पड़ते हैं।

इन्हें सुगन्धित फूल-मालायें, आभूषणादि प्रिय होते हैं। इनका चरित्र अच्छा होता है। शारीरिक व मानसिक रूप से स्वच्छ-निर्मल। अपने आश्रितों के प्रति इसका दयाभाव बना रहता है। ये धन-वैभव-साहस-शक्तिसम्पन्न होते हैं। इन्हें गर्मी धूप पसन्द्र नहीं आती। इनके शरीर में श्वेद आदि अधिक निकलते हैं। ये ईर्ष्यालु होते हैं। इन्हें सोते हुए जलती हुई दिशाओं के सूर्य आदि के दर्शन होते हैं।[16]

कफ प्रकृति

शार्ङ्गधर के अनुसार कफ प्रकृति वाला पुरुष कफ के गुरु और स्थिर होने के कारण गम्भीर अर्थात् सब कार्यों को गम्भीरतापूर्वक विचार करने की बुद्धि वाला होता है। उसकी बुद्धि की थाह नहीं पाई जा सकती है। कफ के पौष्टिक, स्निग्ध तथा सौम्य होने के कारण वह शरीर से स्थूल, स्निग्ध केशों वाला और अत्यन्त बलशाली होता है तथा स्वप्न में नदी, तालाब, झील आदि को देखता है।[17]

अन्य संहिताकारों ने कफ प्रकृति के सम्बन्ध में निम्न प्रकार विवेचन किया है :

चरक के अनुसार श्लेष्म प्रकृति वाले पुरुषों के शरीर, केश, नख, नेत्र, त्वचा चमकीली व स्निग्ध होते हैं क्योंकि श्लेष्मा का गुण स्निग्ध श्लक्ष्ण होता है। मृदु गुण के कारण अंग कोमल श्वेत और लावण्यमय होते हैं। शुक्र धातु प्रचुर मात्रा में होती है। ये व्यवसाय अधिक कर सकते हैं तथा बहुसंतान वाले होते हैं। इनके शरीर दृढ़ और हृष्ट-पुष्ट होते हैं। ये कार्य धीमा गति से करते हैं तथा स्वभाव से अटल होते हैं। क्रोधी कम होते हैं। शीत गुण के प्रभाव से इन्हें भूख, प्यास, गर्मी कम लगती है, पसीना भी कम आता है। इनकी सन्धियाँ सशक्त व सन्धि-बन्धन कसे रहते हैं। इनके मुख से प्रसन्नता प्रकट होती है तथा इनका कण्ठस्वर साफ होता है। इन गुणों के कारण श्लेष्मक व्यक्ति, सशक्त, विद्वान्, ओजस्वी, आयुष्मान्, धनवान् और शान्त स्वभाव के होते हैं।[18]

सुश्रुत के अनुसार श्लेष्म प्रकृति ने व्यक्ति की शरीर छवि दूर्वाघास, नील-कमल, खड्ग, अदरक, रीठा इनमें से किसी एक के रंग पर होती है। यह देखने

में सुन्दर और चक्षु प्रिय होता है। इसकी देहाकृति सुन्दर होती है। यह धैर्यवान्, कृतज्ञ, सहनशील, निर्लोभी होता है। किसी का मित्र ये विलम्ब से बन पाता है और जिससे एक बार शत्रुता कर ले उसका स्थायी से शत्रु हो जाता है।

इस व्यक्ति के नेत्र शुभ्र, केश वृष्ण वर्ण, घुँघराले और दृढ़ होते हैं। मुख कान्तियुक्त, कण्ठस्वर मेघगर्जन सदृश होता है। स्वप्न में ऐसा व्यक्ति कमल, हंस, चकवा-चकवी से युक्त सुन्दर सरोवरों को देखा करता है।

इनके नेत्रान्त भाग गुलाबी, शरीर के अंग समानुपाती होते हैं। यह सात्विक प्रकृति वाला क्लेशों को सहने वाला, गुरुओं का सम्मान करने वाला होता है।

यह व्यक्ति वेदशास्त्रों में आस्थावान्, सोच-विचार कर दान देने वाला, ठीक बोलने वाला होता है।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण आदि देव जाति के व्यक्तियों—सिंह, अश्व, गज, गो, वृष आदि उत्तम प्राणियों और गरुड़, हंस आदि पक्षियों के स्वभावों के जो वर्णन प्राप्त होते हैं। इनके साथ श्लेष्म प्रकृति। मनुष्य के स्वभाव का सादृश्य दिखाई देता है।[19]

भेलसंहिता के अनुसार श्लेष्म प्रकृति के पुरुष की स्मृति-शक्ति दृढ़ होती है। स्त्रियाँ उसकी ओर आकर्षित होती हैं। अधिक सन्तति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति भाग्यशाली, भोजन प्रिय, निरोगी रहते हैं। कम बोलने वाला, उत्साही होता है। इसके शरीर के केश-दन्त-नख सुसंगठित और दृढ़ होते हैं। रुक्ष आहार-विहार को भी सह सकता है। इस प्रकृति का पुरुष मधुर आलस्य प्रधान आहार द्रव्यों को अधिक मात्रा में भी सहन कर जाता है।[20]

वाग्भट्ट के अनुसार कफ प्रकृति के व्यक्ति भी मांसपेशी गठीली, जाँघें, मस्तक और बाहु, आँखें विशाल व प्रसन्न रहती हैं। ऐसे व्यक्ति शुक्र-बल और ओजयुक्त होते हैं। इनके शरीर पर लगाया चन्दन व माला धारण करने पर वे शीघ्र प्रभाहीन नहीं होता है। बाल्यावस्था में अधिक रुदन करने वाले होते हैं। कड़वे, कसैले, चरपरे, रूखे भोजन प्रिय होते हैं।[21]

सम प्रकृति

शार्ङ्गधर संहिता में सम प्रकृति का वर्णन नहीं प्राप्त होता है परन्तु इसके साथ-ही-साथ पूर्ववर्ती संहिताओं में सम प्रकृति का वर्णन प्राप्त होता है।

चरक के अनुसार वात-पित्त और श्लेष्मा तीनों के गुणों का जिन मनुष्यों की प्रकृति में समन्वय हुआ हो, उन्हें 'सम प्रकृति' कहा जाता है या जिन व्यक्तियों

की प्रकृति में वात-पित्त-श्लेष्मा का सम प्रमाण में समन्वय हुआ हो, उनकी सब अग्नियाँ सम अवस्था में रहती हैं।

वाग्भट्ट के अनुसार प्राकृत अवस्था में वात-पित्त और कफ ने सभी गुणों का जब किसी व्यक्ति की प्रकृति में समन्वय होता है तो उसे 'समदोष प्रकृति' कहते हैं।

भेलसंहिता के अनुसार नियमपूर्वक सेवन किये गये, आहार-विहार यदि यथासमय प्रकृति के अनुकूल आ जाते हैं तो यह दोष समता का लक्षण है।[24]

सन्दर्भ

1. प्रकोपो वा अन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
   प्रकृतिनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः।।"
   सुश्रुत शा० पृष्ठ 4-78
2. "शुक्र शोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः प्रकृतिर्जायते तेन।"
   सुश्रुत शा० 4-63
3. The genes are the centers for central of particular Heredtary Traits and the similar genes of pais of dromogemes react with each ather and with their envieonment to establish the charactuisties of a particular indicolual.
4. सप्त प्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथक् द्विशः समस्तैश्च।
   सुश्रुत भा० 4-62
5. 'वातस्तु खलु रुक्ष-लघु-चल-बाहु-शीघ्र-शीत-परुष-विभदः। तस्य रौक्ष्यात् वातजा रुक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरुक्ष-क्षाम-भिन्न-मन्द सक्त-जर्जरस्वराजागरुकाश्च भवन्ति। लघुत्वाच्च लघु-चवल गति चेष्टा-हारव्याहाराः। चलत्वादनवस्थितसंधि-अस्थि-भ्रू-हनु-ओष्ठ-शिरःस्कन्ध-पाणि-पादः। बहुत्वाद बहुप्रलाप-कण्डरा-सिरावितानाः। शीघ्रत्वात् शीघ्रसमारम्भ-क्षोभ-विकाराः, शीघ्र उतत्रास-राग-विरागाः श्रुतिग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च। शैत्यात् शीताऽसहिष्णवः प्रततशीतक-उद्वेपक-स्तम्भाः। पारुष्यात् परुषकेस श्मश्रु रोम-नख-दशन-वदन-पाणि-पाद-अंगाः। वैशद्यात् स्फुटितांगाव यवाः सतत

सन्धिशब्द-गामिनश्च भवन्ति ! त एवंगुणयोगाद् वातलाः प्रायेणाल्प-बलाश्चाल्यापुषश्च अल्पापत्याश्च अल्पसाधनाश्च अधन्याश्च भवन्ति । चरक वि० अ० 8-98

6. सुश्रत शारीरस्थान अ० 4-81-87 तक

7. 'अल्पकेशः कृशो रुक्षो वाचालः चलमासः ।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः ॥"
शा० पू० अ० 6-20

9. "तत्र वातप्रकृतिः प्रजारूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सरी अनार्यो गान्धर्वचित्त ।
स्फुटितकचरणोऽल्परुक्षश्मश्रु-नख-केशः क्राथी नखदन्तखादी च भवन्ति ।
अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः वृशपरुषो धमनीततः प्रलाषी ।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा, वियति त गच्छति सम्भ्रमेण सुप्तः ॥
अव्यवस्यिथमतिश्चलदृष्टिः मन्दरत्नधनसंचयमभिज्ञः ।
किंचिदेवविलपत्यनिबद्धं, मारुतप्रकृतिरेषः मनुष्यः ॥
वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्मुता तथा ।
गृध्रकाकखरादीनां, अनूकैः कीर्तिता नराः ॥
सु० शा० अ० 4- 64 से 67

10. (क) "ह्रस्वः शीघ्रः वृसश्चाणुः प्रलापिपुरुषप्रियः । स्तब्धागो विषम-श्लिष्टो गणरूपो गणेघृतिः ॥"
सहः क्लेशस्य विस्रम्भी रुक्षत्वग अनवस्थितः ।
खरमूर्धजरोमांङ्गः क्षिप्रग्राही तथा स्मृतः ॥
स्वप्नेषु चोष्ट्रेणायाति विपत्यपि तु गच्छति ।
यस्योपशेते सुस्निग्धं स वामप्रवृतिर्नरः ॥
(भेलसंहिना विभाग अ० 4-15 से 18)

(ख) "रुक्षोसहोनरो यस्तु स वातप्रकृतिस्मृतः ।"
(भेलसंहिता वि० अ० 4-8)

11. (क) "अथ स्वदोषगुणानुरोधात् वातप्रकृतिः तनुरुक्ष-स्तब्ध-अल्प-अंग-दन्त-नख-रोम-नेत्र-स्वरः, शीतद्विट्, उद्बद्धपिण्डिकः सशब्दसन्धिगामि, शीघ्रारम्भ-क्षोभ-ग्रहण-विस्मरणः-चल-धृति-मति-गति-दृष्टि-स्वभाव-सौहार्द्रः, स्तेन, अनार्यः, मत्सरी, अत्रितेन्द्रियः, प्रियगान्धर्व-इतिहास-हास-विलास-कलह-मृगया-उद्यान-यात्रः, स्निग्ध-उष्ण-मधुर-अम्ल-लवण-अन्तपान-कांक्षण-उपशयश्च भवति । अपि च—

अल्पपित्तबलजीवितनिद्रः, क्षामवाग् धमनिसंततगात्रः ।
दुर्मगोऽतिभुग् बहुभाषी, नास्तिकः स्फुटितकेशकरांघ्रिः ॥
किंचिदुन्मिषितदुर्मुखसुप्तः, त्रस्यति क्रथति खादति दन्तान् ।
शुष्क-रुक्ष-विषमासु सरित्सु, व्योम्नि शैलशिखरेषु च याति ॥

अष्टांगसंग्रह शा० अ० 8

(ख) "विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात् । स्वातंत्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः, दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः । शीतद्विवश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टा सौहार्ददृष्टिगतयोऽति बहुप्रलापाः ॥ अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः सन्नसक्तचलजर्जरवाचः । नास्तिका बहुभुजः संविलासा गीतहासमृगयाकलिलोलाः ॥ मधुराम्लकटूष्णसात्म्यकांक्षाः वृशदीर्घवृतयः सशब्दयाताः । न दृढ़ा न जितेन्द्रिया न चार्या न च कांतादयिता बहुप्रजा वा । नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तांतचारुणि मृतोगमानि । उन्मीलितानीव भवन्ति, सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यांति ॥

अष्टांगहृदय शा० 4-85 से 88

12. अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमात् स्वेदी च रोषणः ।
स्वप्ने ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः ॥

शार्ङ्गधर पूर्व—6-21

13. 'पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च, तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्ति उष्णासहः उष्णमुखाः सुकुमारावदातगात्राः प्रभूतपिप्लुव्यंगतिलकपिऽकाः क्षुत्पिपासावन्तः क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रु लोमकेशास्तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णपराक्रमास्तीक्ष्णाग्नयः प्रभूताशनपानाः क्लेशसहिष्णवो बन्दशूका द्रवत्वाच्छिथिल मृदुसंधिबन्धमांसाः प्रभूत-सृष्ट-स्वेद-मूत्रपुरीषाश्च, विस्रत्वात्प्रभूतिकक्षास्यशिरः शरीरगन्धाः कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः, त एवं गुणयोगात् पित्तला मध्यबलामध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणबलाश्च भवन्ति ॥

चरक वि० अ० 8-97

14. 'स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलांगः, ताम्रनख-नयन-तालु-जिह्वा-ओष्ठ-पाणि-पादतलो दुर्भगो वली-पलित-खालित्यजुष्टो बहुशुक्र उष्णद्वेषी क्षिप्रप्रसादो मध्यबलो मध्यमायुश्च भवन्ति ।
मेधावी निपुणमति विगृह्यवक्ता, तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः ।
सुप्तः सन् कनक-पलाश-कर्णिकारान्, सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥

न भयात् प्रणयेदनतेष्वमृदुः, प्रणतेषु तु सान्त्वनदानरुचिः ।
भवतीहि सदा व्यथितास्यगतिः, स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ।।
भुजंगोलूकगंधर्व-यक्षमाजरि वातरैः ।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः वैत्तिकास्त नरा स्मृताः ।।

सुश्रुत शा० अ० 4-71

15. 'शिथिलांगो गुरुगन्धश्च चण्डः शीघ्रो महाशनः ।
वली-पलित-खालित्य-शीघ्रपाकी तथाऽक्षमः ।।
वृताक्षः क्रोधनो यश्चाऽदुर्बलोऽदुर्बलेंद्रियः ।
नाम्लाशः शीतशीताशी दुष्प्रजाः शीतलप्रियः ।।
अतिवर्णोऽतिमेधावी स्वप्नेपावकदृक् तथा ।
शीघ्रमायाति यः स्नातः पैत्तिकप्रकृतिर्नरः ।।

भेल विमान 4-19 से 21

"पैत्तिकोऽम्बुसहश्चाऽपि" भेल विमान 4-8

16. 'पित्तप्रकृतिरुष्ण-गौर-गात्रः, ताम्रनख-नयन-जिह्वा-ओष्ठ-पाणि-पादतलः शिथिलसन्धिबन्धमांसः, करभकपिलविरलमृदुकेशरोमाः, मध्यबलायुः, अस्प-शुक्रव्यवायापत्यः, शूरोऽभिमानी, शीघ्रवली-पलित-खलति-पिप्लुव्यंग-क्षत्-पिपासः, मेधावी, दुर्भगः स्वादु-विक्त-कषाय-शीताभिलाषोपशयश्च भवति अपि च—
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः, सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः ।
विभव साहसबुद्धिवलान्वितो, भवति भीषुगति दिषतामपि ।।
धर्मद्वेषी स्वेदतः पूतिगन्धी, भूर्युच्चार-क्रोध-पानाशनेर्ष्यः ।
सुप्तः पश्येत् कर्णिकारात् पलाशान् । दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानिलोंश्च ।।

अष्टासंग्रह० शा अ० 8

17. "गम्भीरबुद्धिः स्थूलांगः स्निग्धकेशो महाबलः ।
स्वप्ने जलाशयलोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः ।।"

शार्ङ्गधर पूर्व—6-22

18. श्लेष्मा हि स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-मधुर-सार-सांद्र-मन्द-स्तिमित-गुरु-सीतपिच्छिल-अच्छः । तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धांगाः, श्लक्ष्णत्वात् श्लक्ष्णांगाः. मृदुत्वात् दृष्टिसुख-सुकुमार-अवदात-गात्रा, माधुर्यात्, प्रभूतशुक्र-व्यवाय-अपत्याः, सारत्वात् सारसंहत-स्थिर-शरीराः, सान्द्रत्वात् उपचित-परिपूर्ण-सर्वगात्राः, मन्दत्वात् मन्दचेष्टाऽऽहर-विहाराः स्तैमित्यात् अशीघ्रारम्भाल्पक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतसः, शैत्यात् अल्पक्षुत्-तृष्णा-संताप-स्वेददोषाः पिच्छिलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाच्छत्वात् प्रसन्न-

दर्शनाननाः प्रसन्नवर्णस्वराश्च। त एवंगुणयोगात् श्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति।

चरक विमान अ० 8-96

19. दूर्वा-इन्दीवर-निस्त्रिंश-आर्द्रा-अरिष्टक-शरकाण्डानां अन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति—

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो, लक्ष्मीवान् जलद-मृदंग-सिंहघोषः।

सुप्तःसन् सकमलहंसचक्रवाकान्, सम्पश्येदपि च जलाशयान्मनोज्ञान्॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः, स्निग्धच्छविः सत्वगुणोपपन्नः।

क्लेशक्षमो मानयिता गुरुणां, ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥

दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः, परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।

परिनिश्चितवाक्यपदः सततं, गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा॥

ब्रह्मारुद्रेन्द्रवरुणैः, सिंहाश्वगजगोवृषैः।

तार्क्ष्यहंससमानूकाः, श्लेष्मप्रकृतयो नराः॥

सुश्रुत शरीर अ० 4-72 से 76

20. "सुस्निग्धः श्लक्ष्णबद्धांगः, सुभगः प्रियदर्शनः।

दृढस्मृतिश्चिरग्राही, दृढभक्तिपरायणः॥

प्रीयमाणोष्णमधुरः, प्रिययोषिद् बहुप्रजः।

क्षमावान्बलवान्धन्य, शीतांशुरशनप्रियः।

चिराद् दृढव्याधि रथो, मितवागल्पशुक्र स्मृतः।

दीर्घदर्शी महोत्साहो धीरः क्लेशसहस्तथा॥

रोम-दन्त-नखैः केशैः, बहुलैर्यः सुबन्धनैः।

चिरादापतति स्नातः, स्वप्ने पश्यति चोदकम्।

यस्तु रुक्षन्तु सहते स श्लेष्मप्रकृतिर्नरः।

भेल संहिता वि०—4-22 से 25

× × ×

"मधुराम्लसहः कफात्।" भेलसंहिता विभान—4-8

21. 'कफप्रकृतिस्तु दूर्वा-इन्दीवर-शरकाण्ड-अन्यतमवर्णः सम-सुविभक्त-स्निग्ध-स्थिर-सुकुमार-श्लिष्टमांस-संधिबन्धः परिपूर्णचारुगात्रो महाललाटोरुबाहुर्व्यक्तसितासित-प्रसन्न-आयत- विशाल-पक्ष्मल-अक्षः सिंह-मृदंगखघोषः क्षुत्-पिपासा-उष्ण-सहिष्णुर्बहु-ओजोबल-शुक्रं-

व्यवाय-अपत्यश्चिरशोषमाल्य अनुलेपनो दृढ़प्रज्छन्न वैर: पेशल: सत्यवादी स्मृतिमान् धृतिमान् अलोलुपो बाल्येऽपि अरोदनः कटु-तित्त-कषाय-उष्ण-रुक्ष-इच्छा-उपशयश्च भवति, अपि च—

"अल्पव्याहार क्रोधपानाशनेहः, प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्ष-क्षमावान् आर्यो निद्रालु दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ।।
ऋजुर्विपश्चित् सुभगः सलज्जो, भक्तो गुरुणां दृढ़सौहृदण्यः ।
स्वप्ने सपद्मान् सविहंगमालान्, तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ।।

अष्टांगसंग्रह शा० अ०-8

22. (क) 'सर्वगुण-समुदितास्तु समधावतः।' चरक वि० अ० 8

(ख) 'तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः ।

चरक वि० अ०-6

23. सर्वगुणसमुदितः समदोषप्रकृतिः । अष्टांगसंग्रह शा० अ० 8

24. 'आहारश्च विहारश्च, सेव्यमानौ क्रमेण हृ ।
कालेन प्रकृति वातः, तदाहुः साम्यलक्ष्क्षणम् ।।'

भेलसंहिता विभाव अ० 3

□ □

8

निद्रा-तन्द्रा एवं स्वप्न

चरक ने हमारे शरीर के तीन उपस्तम्भ बतलाये हैं। (1) आहार, (2) स्वप्न, (3) ब्रह्मचर्य। यदि इन तीनों स्तम्भों का हम उचित रूप में उपयोग न करें अर्थात् इनका हीनयोग या अतियोग करें तो यह मकानरूपी शरीर के तीनों स्तम्भ गिर-कर मकान ढह जायेगा अर्थात् शरीर रोगाक्रान्त होकर नष्ट हो जायेगा।[1]

निद्रा

शार्ङ्गधर ने निद्रा की उत्पत्ति तमोगुण एवं कफ दोष के संसर्ग से बतलायी है।[2]

चरक के अनुसार जब कार्य करते-करते मन तथा इन्द्रियाँ थक जाती हैं और थकावट से युक्त अपने-अपने विषयों से अलग हो जाती हैं, उस समय मनुष्य को निद्रा आती है।[3]

वाग्भट्ट के अनुसार कफ द्वारा स्रोतों के अवरुद्ध होने पर और इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने कर्म करते रहने के कारण श्रम द्वारा थक जाने से जब अपने-अपने विषयों से हट जाते हैं, तब निद्रा आती है।[4]

सुश्रुत के अनुसार मनुष्यों की चेतना का स्थान हृदय कहा है। उस हृदय के तम से आक्रान्त होने पर मनुष्यों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण तम है और जागरण में सत्व गुण कारण है। अतः स्वभाव को ही श्रेष्ठ कारण कहा जाता है अर्थात् स्वभाव से ही निद्रा आती है।[5]

तन्द्रा

शार्ङ्गधर ने तन्द्रा की उत्पत्ति तम गुण एवं श्लेष्मा व वायु के द्वारा बतलायी है।

तन्द्रा की वह अवस्था है जब मनुष्य के शरीर में आलस्य भरा रहता है और ऐसा मालूम होता है कि निद्रा-सी आ रही है परन्तु पूर्णरूपेण निद्रा भी नहीं आती है, ऐसी अवस्था को 'तन्द्रा' के नाम से पुकारा गया है। निद्रा और तन्द्रा का आपस में गहरा सामंजस्य है क्योंकि तन्द्रा की उत्पत्ति निद्रा का उचित रूप में सेवन न करने से होती है।[6]

सुश्रुत के अनुसार इन्द्रियों द्वारा विषयों की अप्राप्ति, भारीपन, जम्भाई आना, क्लाम नींद से पीड़ित मनुष्य के समान जिसकी चेष्टाएँ हों, उसको तन्द्रा समझना चाहिए। यह तम गुण से तथा वात-कफ दोष से उत्पन्न होती है।[7]

स्वप्न द्वारा अरिष्ट ज्ञान

शार्ङ्गधर के अनुसार स्वप्नों द्वारा अरिष्ट ज्ञान निम्न प्रकार होता है जो व्यक्ति स्वप्न में नग्न व्यक्तियों को, सिर मुंडाये हुए, लाल काले वस्त्र पहने हुए, अङ्ग रहित, रस्सियों से बँधे हुए, भैंसे, ऊँट, गधे की सवारी करते हुए दक्षिण दिशा में जाता हुआ दिखायी पड़े तो स्वस्थ व्यक्ति रोगी हो जायेगा और रोगी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होगा। और भी जो व्यक्ति बहुत ऊँचे स्थान से नीचे गिरता हुआ जल या अग्नि में विलीन हो जाता है। कुत्तों के द्वारा पैर पकड़ कर घसीटा जा रहा हो, मछलियों या मगर आदि के द्वारा निगला जा रहा हो, नेत्र नष्ट होते दिखायी पड़े, दीपक बुझता दिखायी पड़े, तेल व सुरा को पीता दिखायी पड़े, तिलों व लोहे की छड़ प्राप्त करता दिखायी पड़े, भोजन करता हुआ, गहरे कुएँ में प्रवेश करता हुआ जो व्यक्ति स्वप्न में देखता है वह व्यक्ति स्वस्थ हो तो रोगी हो जाता है और रोगी हो तो व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है।[8]

दुःस्वप्न चिकित्सा

जिस व्यक्ति को बुरे स्वप्न अर्थात् अरिष्ट सूचक दिखायी पड़ें वे किसी को बतायें नहीं। प्रातःकाल उठकर स्नान करने स्वर्ण व तिलों का दान करें या तिल और पीली सरसों को हवन सामिग्री में मिलाकर यज्ञ करें और गायत्री मन्त्र का तीन दिन तक जाप करें तो दुःस्वप्नों से मुक्ति मिल सकती है।[9]

लाभकारी स्वप्न

जो व्यक्ति स्वप्न में देवता, राजा, ब्राह्मण, प्रज्वलित अग्नि, तीर्थ आदि को देखते हैं वे सुख समृद्धि को प्राप्त होते हैं और भी कीचड़ में से निकलता हुआ, शत्रुओं को पराजित करता हुआ, बैल, पर्वत, रथ पर आरूढ़ होकर जाता हुआ स्वप्न में देखता है वह सुखी रहता है।

सफेद फूल, वस्त्र, फल आदि को स्वप्न में प्राप्त करता है। वह यदि रोगी व्यक्ति है तो स्वस्थ हो जाता है यदि स्वस्थ है तो धन प्राप्त करता है।

और भी अनुचित स्थान पर जाना, विष्ठा का शरीर पर लेप, रोना, मांस खाना, जोंक चिपटना, भौंरे, सर्प, मधुमक्खियों द्वारा काटा जाना आदि स्वप्न में देखें तो स्वस्थ व्यक्ति धन प्राप्त करता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है।[10]

सन्दर्भ

1. "त्रय: उपस्तम्भा इति—आहार: स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति" चरक सूत्र अ०
2. "तम: कफाभ्यां निद्रा······।" शार्ङ्गधर, पूर्व 6-24
3. "यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मान: क्लामान्विता:।
विषयेभ्यो निर्वतन्ते तदा स्वपिति मानवा:॥" चरक सू० अ० 21-35
4. "श्लेष्मावृत्तेषु स्रोत:सु श्रमादुपरतेषु च।
इन्द्रियेषु सकर्मभ्यो निद्राऽऽविशति देहिनाम् ॥" अष्टांग हृदय सू० 9-30
5. "हृदयं चेतनास्थानयुक्तं सुश्रुत। देहिनाम्।
तमोभि तस्मिस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥
निद्राहेतुस्तम:, सत्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥" सुश्रुत शारीर अ० 4-39 व 35
6. "तन्द्रा श्लेष्मतमोनिलै: ॥" शार्ङ्गधर पूर्व अ० 6-24
7. "···तमोवातकफातन्द्रा···॥" सुश्रुत शारीर 4-56
"इन्द्रियार्थेष्व संप्राप्ति गौरवं जृम्भाणं क्लम:।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥" सुश्रुत शारीर अ० 6-24
8. "स्वप्नेषु नग्नान्मुडांश्च रक्तकृष्णाम्बरावृतान्।
व्यङ्गांश्च विकृतान्कृष्णान्सपाशान्सायुधानपि।
बध्नतो निघ्नतश्चापि दक्षिणां दिशमाश्रितान्।
महिषोष्ट्रखरारुढांस्त्रीपुंसो यस्तु पश्यति।
स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यात्येवं पञ्चताम्।
अधो यो निपतयुच्चाज्जलेऽग्नौ वा विलीयते।
श्वापदैर्हन्यते योऽपि मत्स्याद्यैर्गिलितो भवेत्।
यस्य नेत्रे विलीयते दीपो निर्वाणतां व्रजेत्।
तैलं सुरां पिबेद्वापि लोहं वा लभते तिलाम।
पक्वान्नं लभते विशेत्कूपं रसातलम्।
स स्वस्थो लभते रोगं रोगी यात्येव पञ्चताम् ॥" शार्ङ्गधर प्र० अ० 3-14-1
9. "दु:स्वप्नानेवमादीश्च दृष्ट्वा ब्रूयान्न कस्यचित्।
स्नानं कुर्यादुषस्येव दद्याद्हेमतिलानप: ॥
पठेत्स्तोत्राणि देवानां रौत्रौ देवालये वसेत्।
कृत्वैवं त्रिदिनं गर्त्यो दु:स्वप्नात्परिमुच्यते ॥" शार्ङ्गधर पूर्व 3-20-21
10. "स्वप्नेषु य: सुरान्भूपाञ्जीवत: सुहृदो द्विजान्।
गोसमिद्धाग्नितीर्थानि पश्येत्सुखमाप्नुयात्।
तीर्त्वा कलुषनीराणि जित्वा शत्रुगणानपि।
आरुह्य सौधगोशैलकरिवाहान्सुखी भवेत्।
शुभ्र पुष्पाणि वासांसि मांसमत्स्यफलानि च।
प्राप्यातुर: सुखी भूयात्स्वस्थो धनमवाप्नुयात्।
अगम्यागमनं लेपो विष्ठया रुदितं विदु:।
जलौका भ्रमरी सर्पो मक्षिका वापि यं दशेत्।
रोगी स भूयादुल्लाघ: स्वस्थो धनमवाप्नुयात् ॥" शार्ङ्गधर, पूर्व 3-22-26

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

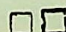
ग्रन्थ का नाम	लेखक अथवा व्याख्याकार	प्रकाशन एवं संस्करण
अथर्ववेद	जयदेव शर्मा	आर्य साहित्य मंडल अजमेर सं० वि० सं० 2022
अभिनव शारीरम्	पं० दामोदर शर्मा गौड़	श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर केन्द्र से प्रकाशित सं० प्रथम 1974
अष्टाध्यायी सूत्रपाठः	पाणिनि मुनि	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1960 ई०
अष्टांगहृदय	आचार्य वाग्भट्ट व्याख्या हरिनारायण शर्मा	हरिनारायण शर्मा वैद्य
अष्टांगसंग्रह (मूल स्थान)	आचार्य वाग्भट्ट व्याख्या —वैद्य गोवर्धन शर्मा छंगाणी	चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी संस्क० तृ० वि० सं० 2035
अष्टांग संग्रह	तदेव व्याख्या—इन्दु	सम्पा० टि० रुद्रपारशव कोचीन, रुद्रपाराशव, 1931 ई०
आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश	वामक शिवराम	मोतीलाल वनारसीदास दिल्ली संस्क० हि० 1969
आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास	आचार्य प्रियव्रत	चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी, 1981 संस्क० द्वि०
आयुर्वेद का बृहत् इतिहास	अत्रिदेव विद्यालंकार	राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन महात्मा गांधी मार्ग लखनऊ-1976
आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें	प्रियव्रत शर्मा	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1962

आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास	कविराज महेन्द्रनाथ शास्त्री बी० ए०	हिन्दी ज्ञान मन्दिर लि० बम्बई 1948
आयुर्वेदीय क्रिया शारीर	वैद्य रणजीत राय देसाई	श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन नागपुर-9
कल्याणकारक	श्री पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री	श्री सेठ गोविन्द जी, सोलापुर संस्क० 1940
काश्यप संहिता	आचार्य काश्यप उपोद्घात पं० हेमराज शर्मणा	निर्णय सागर प्रेस मुम्बई 1938 ई०
ग्रन्थालोचन	सम्पा० दयाशंकर पाण्डेय	....
चरक संहिता	आचार्य अग्निवेश चरक प्रतिसंस्कर्त्ता व्याख्या पं० काशीनाथ	चौखम्बा विद्याभवन सं० हि०
चरक संहिता	तदेव व्याख्या जयदेव विद्यालंकार	मोतीलाल बनारसीदास संस्क० नवम दिल्ली 1975
चरक संहिता	तदेव व्याख्या चक्रपाणिदत्त	सम्पा० यादव शर्मा, संस्क० तृतीय निर्णय सागर बम्बई 1941
छान्दोग्य उपनिषद्	शांकरभाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर, सं० 2019
तर्कसंग्रह	अन्न भट्ट व्याख्या—गोवर्धन मिश्र कृत	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सं० प्रथम सं० 2025
तैत्तिरीय उपनिषद्	शांकर भाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर सं० 2019
त्रिदोष तत्व विमर्श	रामरक्ष पाठक	वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन संस्क० तृ० 1974
त्रिदोष विज्ञान	कविराज उपेन्द्रनाथ दास भिषगाचार्येण टीका-जयदेव विद्यालंकार	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, संस्करण नवम 1975
त्रिदोष विवेचन	डा० नरेन्द्रपाल वर्मा ए० एम० बी० एस० आयुर्वेदालंकार	साइक्लोस्टाइल

त्रिदोष संग्रह	वैद्यधर्मदत्त	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1968
धातुपाठ	....	सद्धर्म प्रचारक मंत्रालय जालन्धर संस्करण 1963
न्याय सिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सं० द्वि० सं० 2028
प्रत्यक्ष शारीरम्	आचार्य गणनाथ सेन	कविराज सुशील कुमार सेन शर्मा कल्पतरु प्लेस 223 चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता सितम्बर 1990
प्रशस्तपाद भाष्य	प्रशस्तदेव टी० जगदीश तर्कलिंकार	प्रकाशक—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व० संस्क० द्वितीय 1977
प्राकृतदोष विज्ञान	वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	आयुर्वेद एवं यूनानी तिब्बी, अकादमी लखनऊ संस्क० प्रथम 1971
प्राकृत अग्नि विज्ञान	,, ,,	,, ,, संस्क० 1974
ब्रह्मवैवर्त पुराण	श्रीराम शर्मा आचार्य	युग निर्माण योजना मथुरा
भाव प्रकाश	श्री मल्लटकतनय—श्रीभाव मिश्र व्याख्या—पं० लाल चन्द्र जी वैद्य	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी संस्करण तृ० 1968
भाषा एवं साहित्यालोचन	प्रो० रामचन्द्र पुरी एवं सरोज बाला	पुस्तक प्रचार गान्धीनगर, दिल्ली—1970 संस्क० प्रथम
भेलसंहिता	आचार्य भेल	भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं होम्योपैथिक की केन्द्रीय अनुसन्धान परिषद् 1975
माधव निदान	आचार्य माधव	चौखम्बा संस्कृत संस्थान

	टीका—श्री सुदर्शन शास्त्री	जड़ाव भवन के० 37/116 गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी
यजुर्वेद	टीका—जयदेव शर्मा	आर्य साहित्य मंडल अजमेर, वि० सं० 1921
याज्ञवल्क्य स्मृति	योगीश्वर याज्ञवल्क्य विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा टीका	निर्णय सागर मुम्बई 1949 संस्क० द्वि०
यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धान्त (कुल्लियात)	वैद्यराज हकीम ठा० दलजीत सिंह रामसुशील सिंह शास्त्री	श्री चुनार आयुर्वेदीय औषधालय तथा आयुर्वेद अनुसन्धान कार्यालय, रामपुरी चुनार, जि० मिर्जापुर संस्क० प्रथम फरवरी 1950
याग दर्शन	सम्पूर्णानन्द	लखनऊ हिन्दी समिति 1974
वाचस्पत्यम्	श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्येण	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस—वाराणसी संस्क० तृ०
शब्दकल्पद्रुम	राधाकान्तदेव बहादुर	" " "
शार्ङ्गधर संहिता	आचार्य शार्ङ्गधर दीपिका टीका काशीराम वैद्य पं० परशुराम द्वारा संशोधित	निर्णय सागर बम्बई संस्करण द्वि०
" "	तदेव टीका आचार्य पं० राधाकृष्ण पाराशर	श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० संस्क० द्वि० 1974
" "	तदेव हिन्दी भाषा टीकाकार श्री प्रयागदत्त शर्मा संशोधक श्री ब्रह्मशंकर मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस 1948 ई०
" "	तदेव हिन्दी टीका—प्रो० हरदयाल गुप्ता	मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास सैद मिट्ठा बाजार, लाहौर वि० सं० 1991
" "	तदेव	गोबिन्द भवन कार्यालय

	व्याख्या श्री प्रयागदत्त शर्मा टिप्पणीकार—श्री लक्ष्मीपति त्रिपाठी	कलकत्ता सं० 1986
श्रीमद् भगवद् गीता	महर्षि वेदव्यास साधारण भाषा टीका सहित	गोबिन्द भवन कार्यालय
शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान	ईवलिन पियर्स अनुवादक—मंजु तथा महेशचन्द्र गुप्त	दिल्ली आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1980
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण व्याख्या रामशंकर भट्टाचार्य	मोतीलाल बनारसीदास चौक वाराणसी, संस्क० प्रथम 1967
सुश्रुत संहिता	आचार्य सुश्रुत टीका श्री अत्रिदेव	मोतीलाल बनारसीदास सं० 1975
" (शरीर स्थान)	तदेव व्याख्या डा० भास्कर गोबिन्द घाणेकर	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास नई दिल्ली 1976
Human Physiology	C. C. Chattarjee	Medical Allied Agency Calcatta June 1977
Gray's Anatomy	Henery gray's	Printed in V.S.A. Edition 1973
Human Physiology	Vander-Sperman Luciane	Edition 13
History of Classical Literature	M. Krishnamachari	....





लेखक परिचय

आयुर्वेद संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में 'शार्ङ्गधर संहिता में शारीर विज्ञान' नामक पुस्तक के लेखक आचार्य डा० वेदप्रकाश आर्य 'शास्त्री' का जन्म जुलाई सन् 1951 ई० में कानपुर देहात जनपद के मध्यमवर्गीय कृषक परिवार में सुदूर ग्रामीण परिवेश के अंतर्गतग्राम—बकोठी में हुआ। इनके पिता श्री गेंदनलाल जी स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानी हैं तथा माता श्रीमती राजरानी देवी भूतपूर्व प्रा० अध्यापिका रही हैं। इन्होंने प्राइमरी (प्राथमिक) शिक्षा ग्राम में ही प्राप्त कर कक्षा 6 जूनियर हाईस्कूल बिल्हौर से उत्तीर्ण की तदुपरान्त आर्य गुरुकुल महाविद्यालय—सिरसागंज जनपद—फिरोजाबाद में 7 वर्ष तक की अवधि में शास्त्री प्रथम वर्ष तक सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसी से शिक्षा ग्रहण की है।

इन्होंने सन् 1975 में राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज गुरुकुल कांगड़ी में निरन्तर 5 वर्ष तक अध्ययन कर कानपुर विश्वविद्यालय कानपुर से आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) स्नातक उपाधि प्राप्त की, आयुर्वेद स्नातक होने के बाद शास्त्री एवं आचार्य (साहित्य) की स्नातकोत्तर उपाधि सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसी से उत्तीर्ण की।

शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन में प्रवक्ता पद पर दो वर्ष तक कार्य किया तदुपरान्त लोक सेवा आयोग उ० प्र० इलाहाबाद द्वारा चयन होने के बाद से अद्यावधि पर्यन्त लगभग 14 वर्ष से राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय में शरीरक्रिया विभाग में प्राध्यापक का कार्य कर रहे हैं।

अध्यापन कार्य करते हुए ही श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के अंतर्गत विधावारिधि (पी-एच० डी०) उपाधि प्राप्त की। अध्ययन अध्यापन एवं चिकित्सा कार्य में विशेष रुचि रखते हैं तथा अनेक शोध-पत्रों एवं लेखों का प्रकाशन भी किया है। डा० वेदप्रकाश आर्य का यह पुस्तक-लेखक का प्रयास अत्यन्त सराहनीय एवं आयुर्वेद अध्ययनकर्त्ताओं का मार्गदर्शक होगा।